श्यामसुन्दर घोष —

सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली-६

व्यंग्य क्या
व्यंग्य

प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, २०५-बी चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६
मुद्रक : संजय प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२ / सर्वाधिकार सुरक्षित
संस्करण : प्रथम, १९८३ / मूल्य : पच्चीस रुपये

VYANGYA KYA VYANGYA KYON
by Dr. Shyam Sunder Ghosh

Rs. 25.00

व्यंग्यकार तीरभा

के लिए

वकालत

❑ श्याम सुन्दर घोष

(व्यंग्यकारों की ओर से की गई एक वकालत जिसके लिए कोई फीस नहीं ली गयी।)[1]

प्रिय सम्पादक जी,

'व्यंग्य कटघरे मे'[2] देखने का मौका मिला। उसमें आपके व्यंग्य से न्यायाधीश पूछता है कि उसका कोई वकील है क्या? व्यंग्य कहता है कि उसने वकीलो को भी नही बख्शा है तो फिर वकील उसकी वकालत कैसे करेंगे? साथ ही वह बताता है कि व्यंग्य अब खुद-मुख्तार हो गया है इसलिए अपनी वकालत खुद कर सकता है, उसे किसी दूसरे वकील की जरूरत नही है। लेकिन मुझे लगता है कि बात कुछ और भी है। व्यंग्य साहित्य की—और उसमे भी हमारी राष्ट्र भाषा के साहित्य की—एक विपन्न विधा है। व्यंग्य के पास इतने पैसे नही कि वह कोई बड़ा वकील कर सके। आज का वकील बिना पैसे के किसी की वकालत करने को तैयार नहीं, बला से कोई बेगुनाह-बेरहमी से जेर किया जा रहा हो। वकीलों को व्यंग्य ने नही बख्शा है, यह मैं अच्छी तरह से जानता हूं। लेकिन यदि उसकी टेंट मे करें-करें नोट होते तो कोई भी वकील उसकी वकालत करने के लिए आसानी से तैयार हो जाता। वकीलों को केवल पैसो की चिंता होती है। और किसी बात की फिक्र वे बहुत कम करते हैं। आप उनको जलील कीजिए, लेकिन मोटी रकम एडवास दे दीजिए, वे तुरन्त काला चोगा पहनकर अदालत में आपकी वकालत करने को तैयार हो जायँगे। लेकिन यदि आप टेंट के कच्चे हैं, तो फिर आपको फासी की सजा या आजन्म कारावास का दड ही क्यो न सुनाया जाना हो, कोई

---

१. देखिये, परिशिष्ट के अंतर्गत राधा कृष्ण जी को लिखा गया पत्र।

२. एक एकांकी।

मोतीलाल[1] का पूत आपकी सहायता को न आएगा। एक वकील होने के नाते ही मैं यह बात कह रहा हूं। एक हमपेशे की नस-नस को एक हमपेशा ही समझ सकता है।

व्यंग्य खुद मुख्तार हो गया है यह मैं मानता हूं। वह अपनी वकालत कर भी सकता है, कर रहा है। लेकिन एक बात मैं साफ कर दूं, आदमी कितना ही काबिल क्यों न हो, अपने मामले में उसकी काबिलियत कभी-कभी उसका साथ नहीं भी देती है। इसलिए आप देखेंगे कि अच्छा डॉक्टर अपने घर के लोगों का इलाज खुद नहीं करता, किसी दूसरे डॉक्टर से कराता है, अच्छा वकील अपने मुकदमे की वकालत खुद नहीं करता, किसी दूसरे वकील से करवाता है। इसलिए भी व्यंग्य को खुद अपनी वकालत करने से बाज आना चाहिए। मुमकिन है कि वह बहस के दौरान नुक्ते की कोई ऐसी गलती कर जाये कि बना-बनाया मुकदमा बिगड़ जाये और अदालत की ओर से कोई ऐसी सजा सुना दी जाये कि बेचारा पस्त-हिम्मत हो जाये। और आप तो जानते ही हैं कि टूटे हुए, साधनहीन लोगों के लिए बड़ी अदालत में अपील कर पाना भी मुश्किल होता है। और फिर बड़ी अदालत के भी तो अपने वही चोंचले हैं। जिन वजहों से आप छोटी अदालत में अपना मुकदमा हार सकते हैं उन वजहों से आप बड़ी अदालत में अपना मुकदमा न हार जायेंगे इसकी क्या गारंटी है ? इसलिए मैं जरूरी समझता हूं कि व्यंग्य की ओर से कोई वकालत की जाये। इसलिए यह वकालत आपकी सेवा में हाजिर है।

अभी हाल में जब हिन्दी व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई को गुंडों ने बेंतों से, उनके घर जाकर इसलिए पीटा कि वे लोगों की बहुत बखिया उधेड़ते हैं तो बड़ा हाय-तोबा मचा। लेकिन मैं एक बात बता दूं कि बहुत पहले ही हमारे बार काउंसिल के सदस्यों की एक राय हुई थी कि व्यंग्य-कार वकीलों को भी नहीं बख्शते इसलिए हमें एकराय होकर यह प्रस्ताव पारित करना चाहिए कि ऐसे शातिर लोग यदि कभी मामले-मुकदमे आदि में फंस जायें, तो हमें इनकी वकालत कभी नहीं करनी चाहिए। लेकिन

१. पंडित मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू की ओर संकेत है।

कुन्द जेहन है कि या तो व्यग्य को समझता ही नही, या समझकर भी अनसमझा रह जाता है। उसकी चमड़ी इतनी मोटी है कि व्यंग्य की महीन मार उस पर असर नही करती। इसीलिए कुछ व्यग्यकार अब बौखलाकर भरपूर वार करने लगे है। लेकिन भारतीय समाज का व्यक्ति है कि उसी हिसाब से चमडी मोटी करता जाता है। वह दिन दूर नही जबकि ये लोग अपने इस रवैये से व्यग्यकार को पागल कर देंगे। उसे व्यग्य की धार का असर न होते देख कही सचमुच मे कोई और ज्यादा खतरनाक हथियार न इस्तेमाल करना पड़े।

आज व्यग्य व्यक्ति और समाज के मनोरजन का एक अच्छा और सस्ता साधन है। 'धर्मयुग' जैसी पत्रिकाओ में जैसे सिनेमा और बाल-स्तम्भ होते हैं वैसे ही व्यग्य स्तम्भ भी होता है। व्यग्य का चुटकुले की तरह आम उपयोग तो आज हर जगह देखा जा रहा है। वे दिन गये जबकि अग्रेजी सरकार साहित्यिक रचनाओ की नोटिस लेती थी। वे समझते थे कि साहित्य का समाज पर कुछ असर होता है इसलिए वे रचनाओं और रचनाकारों की धर-पकड़ करते थे। लेकिन भारत की सपाट बुद्धिवाली सरकार समझती है कि साहित्य-फाहित्य वाहियात चीज है और समाज पर इसका कोई असर नही होता। साहित्य या तो साहित्यिक पढ़ता है या बेकार-बेरोजगार लोग। इन पर असर होकर भी क्या होगा? मत्री, नेता, न्यायाधीश, प्रशासक, व्यवसायी आदि साहित्य नही पढते। उन्हे अंग्रेजी-हिन्दी जासूसी सिरीज से फुरसत कहां है कि साहित्य, और उसमे भी नयी-नवेली विधा व्यंग्य पढ़ें। इसलिए व्यग्य आज हिन्दी मे एक तरह से दयनीय लेखन है। वह जुर्म कर ही नही सकता। उससे बढ़कर ज्यादा जुर्म तो साहित्य-समीक्षा कर सकती है कि किसी कृति को दो कौड़ी क साबित करके लेखक की नीद हराम कर दे। उसके कारण बेचारे लेखक का ब्लड-प्रेशर घट या बढ सकता है। इसलिए व्यग्य अभी भारतीय समाज मे जुल्म कर सकने की स्थिति में नहीं है। अभी उसका यह काम दूसरे कर रहे हैं। इसलिए उसे किसी मुकदमे में फसाकर जेर करना फिजूल है।

व्यग्य समाज के लिए हानिकारक, अनुपयोगी और त्रासदायक भी

नही है। यह व्यंग्यकार को आज रोजी-रोटी दिला रहा है, पत्र-पत्रिकाओं की विक्री बढ़ा रहा है और पाठकों के लिए हास्यदायक है। यह व्यंग्य ही है जिसे पढकर मोटे लोगों की चिकनी तोंद हिलती है और मनहूस लोग कभी-कभी होंठ-प्रसारण और दंत-प्रदर्शन करते हैं। यह लोक सभा और विधान सभाओं के नेताओं के भाषणों को रोचक बनाने के लिए 'काले नमक' की तरह इस्तेमाल होता है। रूपसियो के लिए यह रामपुरी चाकू है जिससे वे अपनी सहेलियों या टोले-मुहल्लेवालियों पर वार करती हैं लेकिन मजाल क्या कि एक बूंद खून चू पडे। नाटक-सिनेमा वालों के लिए यह ऐसा नया फार्मूला है कि दर्शकों की ओर से पहले पैसे और फिर तालियां, और बहुत खुश होने पर कुछ मीठी गालियां भी मिल जाती हैं, जिसमें 'स्साला' तो आम कम्प्लिमेंट है।

व्यंग्य गवार, असभ्य और आवारा है, आप ऐसा भी नही कह सकते। यह बात को बहुत सुन्दर ढग से कहता है। जब रानी ऐलिजाबेथ भारत आयी थी तो कुछ लोग उसके शाही स्वागत-सत्कार में बहुत सरकारी पैसा खर्च होने देने के पक्ष में न थे। कुछ अखबारों ने असभ्य ढंग से नुक्ता-चीनी की और राजनीति के लोगों ने विरोध-प्रदर्शन, नारेबाजी आदि का भी कार्यक्रम बना लिया। लेकिन एक व्यंग्य-कवि को यह नागवार गुजरा। उसने देश और रानी को सुनाकर एक बड़ा सुन्दर कोरस गाया—

आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी,
यही हुई है राय जवाहर लाल की।

नागार्जुन की इस कविता को सुनकर और गाकर देश झूम उठा। यदि रानी ऐलिजाबेथ ने हिन्दी समझा होगा तो वे भी खुश हुई होंगी। क्योंकि इसमें उनका कहीं कोई विरोध नही है, उल्टे है तारीफ! और इसके साथ अपने राष्ट्र नेता जवाहर लाल की भी तारीफ है। यहां जवाहर लाल के निर्णय के प्रति भारतीय जन की अटूट निष्ठा का प्रदर्शन है! इस ढंग से व्यंग्यकार ही अपनी बात कह सकता है। हमें उसकी तारीफ करनी चाहिए। व्यंग्यकार ही महात्मा गांधी का सच्चा चेला है। वह अपने स्वभाव और कर्म में हिंसा नही आने देता। जब दूसरे लोग एकदम बौखला जाते हैं तब भी वह संतुलन कायम रखता है और अपनी पुरजोर बात को

कलात्मक ढंग से कहता है। क्या यह बड़ी बात नहीं है ?

व्यंग्यकार थोड़े में संतुष्ट रहने वाला जीव है। यदि श्रीलाल शुक्ल को अपवाद मान लें तो व्यंग्य को कभी कोई पुरस्कार नहीं दिया गया। श्रीलाल शुक्ल व्यंग्यकार के अलावा सरकारी अफसर हैं और अकादमी पुरस्कार सरकारी पुरस्कार है। इसलिए इस मामले में सरकारी चीज का इधर से उधर हो जाना ही है। मजाल है कि और कोई व्यंग्यकार सरकारी पुरस्कार पा ले या कि श्रीलाल शुक्ल को कोई गैर सरकारी साहित्यिक पुरस्कार मिल जाये। और तो और एक व्यंग्यकार राधाकृष्ण को जब नोबेल पुरस्कार देने की बात चली तो उनको बड़ा ताज्जुब हुआ। उनके लिए नोबेल पुरस्कार उतना ही अर्थहीन है जितना कि सार्त्र के लिए...

हेनरी किसिंगर साहब से आप उनकी बातचीत सुन लीजिये—

किसिंगर : (प्रार्थना के स्वर में) देखिए मिस्टर आर० कृष्णा, आप कम-से-कम नोबेल पुरस्कार स्वीकार तो कर ही लें।

राधाकृष्ण : (सिर हिलाकर) नहीं महोदय, मैं किसी कीमत पर नोबेल पुरस्कार स्वीकार नहीं कर सकता।

किसिंगर : (चौंककर) तब ?

राधाकृष्ण : सन् १९६४ में नोबेल पुरस्कार अस्वीकार करते हुए ज्यां पाल सार्त्र ने कहा था कि इस पुरस्कार की अपेक्षा एक बोरा आलू ज्यादा श्रेष्ठ है। सन् १९७४ का नोबेल पुरस्कार अस्वीकार करते हुए मैं आपसे कह रहा हूं कि एक बोरा आलू की अपेक्षा दस किलोग्राम गेहूं ज्यादा अच्छा है। समझ गये !

किसिंगर : (टेबुल पर से अपना टोप उठाते हैं, अटैची लेते हैं और उठकर चल देते हैं।)

(विवरण के लिए देखें धर्मयुग का २४ मार्च, १९७४ का अंक)

व्यंग्यकार शुरू से ही बड़े संतोषी जीव रहे हैं। वे लिखकर पैसा, पद, प्रतिष्ठा आदि किसी चीज की उम्मीद नहीं करते। न तो उनकी

रचना पर फिल्म बनने की गुंजाइश है और न वह सम्मेलनों में पढी जा सकती है। कभी-कभार दिल्ली या बम्बई जैसे बडे शहरों मे इनकी बैठकें हो जाती हैं। लेकिन ऐसे मौके पर भी ये केवल अपने बल-बूते पर कुछ नही कर पाते। इन्हें अपने बडे भाई हरफन मौला हास्य का सहारा लेना पड़ता है। 'श्री मान हास्य' दुनियादारी मे बहुत सफल माने जाते है और इसलिए अपने छोटे भाई व्यंग्य की दिक्कतें समझते है। केवल सिनसियरिटी के भरोसे आज दुनिया के कारोबार नही चलाये जा सकते है। इसलिए व्यंग्य की दुकानदारी मे हास्य मदद कर देता है। यदि ऐसा न हो तो व्यग्य खोंचा ही लगाता रह जाये। वह हास्य की सहायता से ही होटल या रेस्तरा में तब्दील हो सकता है। उसके होटल और रेस्तरा मे भी लोग आमतौर पर चाय-पानी के लिए ही आते है क्योकि वह चाट अच्छी बनाता है। वहा बड़े होटलों की तरह सैकड़ों बेयरे और खानसामे नही हैं, साफ चकमक चमकती हुई प्लेटें और कुर्सिया नही हैं, मीठी धीमी बजती हुई धुन नही है कि सभ्रान्त लोग वहां डिनर के लिए आ सकें। तो फिर बिल कहां से बनेगा ? इसलिए व्यग्य दया का अधिकारी है। एक जगह व्यग्य ने कहा था कि जब व्यंग्य पहले नाबालिग था तो उसकी शरारतें होती थी। तब उसकी जुर्म करने की हैसियत ही नही थी। लेकिन मीलार्ड, मैं कहना चाहूंगा कि भारतीय समाज मे जुर्म करने के लायक वह अभी भी नही हुआ है। हां, वह कुछ छिटफुट शरारतें ही कर पाता है। उसकी शरारतों को बदमाशी भी नही कह सकते। यह सब तो आज दूसरों के हिस्से है। इसलिए व्यग्य को आसानी से माफ किया जा सकता है।

व्यंग्य पर मुकदमा न चले, और उसको कोई सजा न हो यह समाज का हर आदमी चाहेगा, क्योकि यदि मुकदमा चला तो वह जैसा सीधा, सच्चा, सरल और साधनहीन है कि जरूर हारेगा। और जब वह सजा पाकर जेल जायेगा तो वहां उसके और भी बिगड़ने की सभावना है। तब वह और ज्यादा खूंखार हो सकता है। जेलों में उसकी मुलाकात चोर, डकैत, शातिर और कातिलों से होगी। वह उन्हें देखेगा और उनके गुर सीखेगा। अभी तो व्यंग्य को समाज में कुछ-न-कुछ रगरेलिया मनाने की आजादी है इसीलिए अभी वह कुछ-कुछ हल्का-फुल्का भी है। लेकिन जब

वह जेल की सीखचो मे बन्द होगा, तो चुटकुला सुनाना बंद कर देगा। वह सीखचो के अन्दर कैद दात पीसता रहेगा और असभव नहीं कि किसी अपराधी से साठ-गाठ कर जेल की चारदीवारी लाघकर, या सेंध मारकर वहा से फरार हो जाये और फिर डाकू मानसिंह या पुतली बाई की तरह समाज मे तहलका मचा दे और लोगो की नीद हराम कर दे। इसीलिए अधिक निरापद यही है कि उसको अनावश्यक महत्त्व न दिया जाये। उसे यो ही छेड़खानी करने की सार्वजनिक इजाजत मिल जाये कि वह अपनी हरकतो से आप से आप हास्यास्पद हो जाये।

मजमून पर टिप्पणी

व्यग्य की ओर से की गयी यह वकालत कानूनी कसौटी पर सोलहो आने सही नही है। लेकिन इससे व्यग्य के प्रति एक वकील का स्नेह, सद्भाव और सहयोग प्रकट होता है। वैसे भी आज न्यायालयों, न्यायाधीशों और वकीलों की जो दशा है उसमे कानूनी बातों, कानून की पुस्तको के उद्धरणों, उल्लेखों आदि की बहुत जरूरत नही समझी जाती। अब तो न्यायाधीश वगैरह भी पीठ पीछे हाथ फैलाने लगे है। फैसला अब वे कानून के नुक्ते-नजर से उतना नही लिखते जितना कि अपने ह्निम के अनुसार। इसलिए वकीलो की सारी कोशिश अदालत को खुश करने की होती है। अब कानूनी बातो की अपेक्षा भाषण, जुमलेबाजी, खुशामद और हाव-भाव आदि की प्रधानता है। और सबसे बढ़कर यह कि वकील का बैकग्राउण्ड भी देखा जाता है कि वह किस जाति का है, उसके किससे क्या सरोकार हैं। इसी के अनुसार उसकी बहस का मोल आका जाता है और इसी हिसाब से फैसले दिये जाते है। इसलिए इस वकालत को बहुत अप-टू मार्क न मानते हुए भी सम्पादक स्वीकार करने को विवश है। आजकल जैसे विद्यार्थी परीक्षा मे एडीटोरियल से अपना काम चला लेते है और परीक्षक उत्तर को सतोपजनक न पाकर भी उत्तीर्णांक देने को विवश हो जाते हैं, क्योकि वास्तविक उत्तर कोई लिखता ही नही, उसी तरह अदालत भी वकीलों की ऐसी बे-सिर-पैर की बातों को ही कानूनी बहस मानकर स्वीकार कर लेती है। सम्भव है व्यग्य के मुकदमे मे ये सभी बातें एक

साथ हों और यह वकालत काम कर जाये।

सबसे बडी बात तो यह है कि मांगे के बैल के दांत नही देखे जाते। यदि कोई दूसरा बड़ा वकील कभी व्यग्य की ओर से ज्यादा अच्छी वकालत कर सका तो दूसरी बार (अर्थात् दूसरे सस्करण मे) उसे ही शामिल कर लिया जायेगा। लेकिन ऐसा कोई मोतीलाल नेहरू का पूत सामने तो आये ! अभी तो व्यग्य की ओर से जिन्हे वकालत करनी चाहिए वे व्यग्य को भुनाकर जीविका चलाने या महल-अटारी खडी करने मे ही व्यस्त है। किमादिकम् । इत्यलम् ।

पुनश्च, मेरे एक नेता-मित्र का विचार है कि व्यग्य की ओर से किसी वकालत की कोई जरूरत नही है । इसके लिए किसी नेता की पैरवी होनी चाहिए। ऐसा पैरवी-भाषण वकालत की अपेक्षा ज्यादा कारगर साबित हो सकता है। वकील जो कुछ बकता है पैसा लेकर बकता है। यदि वह मुफ्त में भी बकेगा तो ऐसा ही समझा जायेगा कि वह पैसा लेकर बोल रहा है ।लेकिन नेता के साथ ऐसी कोई बात नही है और फिर अब न्यायालय पर नेता की बात का असर भी पड़ने लगा है क्योंकि जज समझने लगे है कि नेता यदि चाहे तो उनकी वरिष्ठता का कत्ल कर सकता है। नेता की बात का आज के समाज मे इतना असर है कि यदि वह व्यंग्य पढने को कहेगा तो 'कल्याण' पढ़ने वाले भी व्यग्य पढने लगेंगे। मेरे मित्र का यह दृष्टिकोण विचारणीय है। मैं चाहूगा कि व्यग्य के पक्ष में ऐसे भाषण दिये जाय। ऐसे पैरवी-भाषण दूसरे संस्करण मे छप सकते है।

व्यंग्य कहां से आता है ?

□ वीर भारत तलवार

सभी देशों मे व्यग्य का साहित्य मे एक मुख्य स्थान रहा है। व्यंग्य करने की अपनी शक्ति के कारण विभिन्न लेखकों की एक खास पहचान बन गयी है। अमरीकी लेखक मार्क ट्वेन, ब्रिटिश लेखक बनार्ड शॉ, रूसी लेखक एण्टन चेखव और भारत मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके कई समकालीन लेखक तथा हरिशकर परसाई साहित्य मे अपनी व्यग्य शक्ति के कारण विख्यात हैं। लेकिन व्यग्य की शक्ति सिर्फ कलात्मक साहित्य तक ही सीमित नही रही है। अन्य प्रकार के साहित्य, उदाहरण के लिए राजनीतिक साहित्य मे भी व्यग्य एक प्रमुख शक्ति रही है। विभिन्न देशों की पालियामेंट और न्यायालयों मे चलने वाले व्यग्य के अलावा राजनीति तथा दर्शन के क्षेत्र में मार्क्स, एगेल्स और लेनिन के साहित्य में तीखे व्यंग्य प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। मार्क्स की 'पवर्टी ऑफ फिलासफी', एगेल्स की 'ड्यूरिंग मत खंडन' और लेनिन के विभिन्न लेखो मे व्यंग्य की एक ऐसी शक्ति देखने को मिलती है जो साहित्यकारो के यहा भी दुर्लभ है। इससे यही साबित होता है कि व्यग्य सिर्फ साहित्यिक भाषा के कमाल का नाम नही है। तब प्रश्न उठता है, व्यंग्य क्या है और कहां से आता है ? अर्थात् व्यग्य का स्रोत कहां है ?

व्यग्य सिर्फ साहित्यिक भाषा की वक्रता या 'चुटकी' नहीं है। व्यग्य की शक्ति वस्तुओं के बीच निहित असगति में होती है। वस्तुओं को अगर एक-दूसरे से स्वतन्त्र करके देखा जाए या किसी वस्तु का सिर्फ एक ही पक्ष देखा जाए—तो वे किसी भी दृष्टि से सुन्दर लग सकती हैं, लेकिन उनसे कोई व्यग्य नही उभरता प्रत्येक वस्तु जब दूसरी वस्तु के सम्पर्क मे आकर दूसरी वस्तुओं के साथ अपना एक सबध बनाती है, तो इसका प्रभाव सपर्क मे आयी दोनों ही वस्तुओं की शक्ल और उनके तत्व पर पड़ता है। व्यग्य इसी सम्पर्क की अवस्था में पैदा होता है। वस्तुओ के बीच जो असगतिया

या अंतर्विरोध रहते हैं, वे असंगति या अंतर्विरोध ही व्यंग्य के रूप में, भाषा में प्रकट होते हैं। इसी प्रकार एक ही वस्तु के दो पक्षों के बीच निहित अंतर्विरोध भी व्यंग्य के रूप में, भाषा में प्रकट होते हैं। यानी व्यंग्य का स्रोत भाषा की वक्रता या चमत्कार नहीं है, व्यंग्य का स्रोत भाषा की शाब्दिक या आर्थिक असंगति नहीं है बल्कि व्यंग्य समाज की वस्तुगत परिस्थितियों में निहित असंगतियों की भाषा में अभिव्यक्त है, बेशक यह अभिव्यक्ति अपने साथ कुछ विशेष साहित्यिक गुणों को अपने में धारण किए होती है जैसे कि व्यंजना या लाक्षणिकता का गुण व्यंग्य की भाषा में निहित होता है लेकिन यह व्यंग्य की भाषागत विशेषता है, यह व्यंग्य की विषयवस्तु नहीं है। व्यंग्य का स्रोत वस्तुगत परिस्थितियों के बीच की असंगतियां हैं।

उदाहरण के लिए 'गरीबी हटाओ' और 'इन्दिरा समाजवाद' को लीजिए। 'धर्मयुग' में हास्य-व्यंग्य के पृष्ठों पर अक्सर 'गरीबी हटाओ' और 'समाजवाद' के नाम पर व्यंग्य करती हुई छोटी-छोटी हास्यरस की कविताएं छपती रहती हैं। अन्य पत्रिकाओं में भी इन दो विषयों पर कुछ व्यंग्य रचनाएं छपी हैं। लेकिन इन साहित्यिक पत्रिकाओं से भी अधिक हम अपने समाज में देखते हैं कि राह चलते लोग, पान की दुकानों पर खड़े लोग, होटलों में खाते वक्त और दफ्तर-स्कूलों-कॉलिजों के स्टाफरूम और घर में आये परिचितों के संग भी लोग—'गरीबी हटाओ' और 'इन्दिरा समाजवाद' पर तरह-तरह की फब्तियां कसते हैं और इन पर अपने व्यंग्य-बाण चलाते हैं। समाज में वास्तविक रूप में इन दो विषयों पर आज लोग जितना व्यंग्य कर रहे हैं, वह सभी व्यंग्य साहित्यिक पत्रिकाओं और पुस्तकों में अभी तक नहीं आया है। कारण स्पष्ट है कि हमारा साहित्य हमारे समाज की वास्तविकताओं से बहुत पीछे है और जो वास्तविकता है उसे अभिव्यक्त कर पाने में भी आज लेखक असमर्थ साबित हो रहे हैं। खैर सवाल है कि 'गरीबी हटाओ' और 'इन्दिरा समाजवाद' के नाम पर जो व्यंग्य आज कलात्मक साहित्य में लिखा जा रहा है उसका स्रोत कहां है? क्या यह इनके लेखकों की भाषा का कमाल है? क्या ये लेखक अपनी कल्पना-शक्ति और प्रतिभा से अपनी भाषा को इस प्रकार सजा रहे हैं कि व्यंग्य पैदा होता जा रहा है? अथवा इन व्यंग्यों को आज भारत की वस्तु-

गत परिस्थितयो की असंगतियां उत्पन्न कर रही हैं ? अगर लेखक सिर्फ अपनी साहित्यिक प्रतिभा के बल पर ये व्यग्य लिख रहे होते तो समाज के बहुत से आम लोग, जो इस साहित्यिक प्रतिभा से आज कोसों दूर हैं, इन विषयो पर इतना व्यग्य कैसे कर पा रहे है और आम लोगों द्वारा किए जा रहे व्यग्यो की तुलना मे पत्र-पत्रिकाओ में छप रहे व्यग्य अपेक्षाकृत बहुत हल्के नीरस और कभी-कभी बेमजा और भोंड़े भी क्यो हैं ? इसलिए यह स्पष्ट है कि व्यग्य, लेखको की प्रतिभा से पैदा नही होता है। 'गरीबी हटाओ' के नाम पर इन्द्रा सरकार ने पिछले तीन चार वर्षों से जो नीतिया और कार्यक्रम लिये, उनका परिणाम क्या निकला है ? लोक सभा में ससद सदस्य पीलू मोदी ने बतलाया कि रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार पिछले छः सालों में देश मे गरीबो की सख्या मे वृद्धि हुई है। अर्थशास्त्री दाण्डेकर ने अपनी किताब 'पवर्टी इन इण्डिया' में आंकड़ा दिया है कि पिछले तीन वर्षों के अन्दर देश मे गरीबी की न्यूनतम सीमा रेखा ५२% से बढ़कर ७२% हो गयी है। सिर्फ गरीबी ही बढ़ी होती तो इसकी एक दूसरी व्याख्या भी हो सकती थी। लेकिन इसके साथ ही हाल की रिजर्वबैंक की रिपोर्ट के अनुसार देश के १० बड़े उद्योगपतियो की पूंजी पिछले तीन वर्षों के अन्दर कई गुना अधिक बढ़ गयी है। इन दोनो वस्तुगत परिस्थितियो को सामने रखिए और इन्द्रागाधी के 'गरीबी हटाओ' के नारे और 'समाज वाद' के कार्यक्रम को सामने रखिए—व्यग्य स्वतः पैदा हो जाता है। इन वस्तुगत परिस्थितयो के प्रति, इन अन्तर्विरोधों के प्रति सचेत और इनके प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखने वाला लेखक अपने साहित्य मे इसी व्यग्य को भाषा प्रदान करता है। उसका व्यंग्य-साहित्य समाज की वस्तुगत परिस्थितियों मे निहित अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त करता है। अगर लेखक अपने सामने सिर्फ इन्द्रा के समाजवादी कार्यक्रम को रखे या सिर्फ वस्तुगत परिस्थितियो को रखे तो इस एकपक्षीय स्थिति से कोई व्यग्य नही उभर सकता। लेकिन जब लेखक विभिन्न वस्तुओ को उनके आपसी संबंधों के परिप्रेक्ष्य मे देखता है, तब वह उनके बीच निहित असग-तियो को भी देख पाता है और केवल तभी वह व्यंग्य लिख पाता है। वस्तुओं को इस प्रकार देखना एक दृष्टिकोण है। लेखक मे धीरे-धीरे यह

है जिन्हें धन के अभाव में जीने के लिए उधार लेना पड़ता है, उधार लेना उनके जीवन के लिए अभिशाप बन जाता है; लेकिन पूंजी पर आधारित समाज मे उधार के बिना उनके लिए जीवन-यापन का कोई दूसरा रास्ता भी नहीं है। मैकाबर के चरित्र और व्यवहार के अन्तर्विरोध समाज के कुछ गहरे, बुनियादी अन्तर्विरोधों को प्रतिबिम्बित करते हैं जिनकी यातना को मैकावर जैसे लाखों-करोडों गरीब इन्सान अपनी जिन्दगी मे झेलते है। गरीबो के प्रति प्यार, उनके दु खो को पैदा करने वाली परिस्थितियों के प्रति सचेतनता और समाज के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण—यही वे चीजें है जिनके कारण डिकेन्स मैकावर के चरित्र और व्यवहार को व्यग्य का विषय बनाते हुए भी उसे अपार मानवीय सहानुभूति का पात्र बना देते हैं।

एण्टन चेखव की कहानी 'एक क्लर्क की मृत्यु' को लीजिए। वह सारी कहानी एक तीखा व्यग्य है, फैंटास्टिक-व्यग्य। वह क्लर्क मर जाता है सिर्फ यही सोच-सोचकर कि तमाशा देखते हुए उसने अफसर पर जो भूल से छींक दिया था, उस अफसर ने इसका कितना बुरा माना होगा और अगर बुरा माना होगा तो यह बात उस क्लर्क के लिए कितनी बुरी और भयानक है। इसी सोच मे क्लर्क मर जाता है। इस व्यग्य के पीछे जारशाही रूस की भ्रष्ट और पतनशील समाज व्यवस्था मे क्लर्क और अफसर के बीच निहित अन्तर्विरोध हैं जिन्हे उनकी स्वाभाविक परिणति के साथ चेखव ने अपनी कहानी में उतार दिया है। लेकिन चेखव यह व्यंग्य करके उदास हो जाता है। उसके व्यंग्य में एक तिलमिला देने वाली मुस्कराहट या आक्रामक रुख नही है। उसके व्यंग्य पर उदासी की श्यामल परत उतरी हुई है। हम भी कहानी को पढकर उदास हो जाते हैं। यह उदासी कहा से आती है ? यह उदासी मनुष्य की कमजोरियो और उसके पतन की अवस्था को देखकर पैदा होती है। मनुष्य की, गरीब इन्सानों की यह परिणति उस हर आदमी को उदास करेगी जिसकी सहानुभूति गरीब वर्गों के साथ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि समाज मे काम कर रही प्रगति और प्रतिक्रिया की वास्तविक शक्तियों के बीच व्यग्य को उसके सम्पूर्ण अर्थ और मानवीय भावो की छायाओं के साथ पकडने के लिए समाज की वस्तुगत परिस्थितियों के प्रति

आलोचनात्मकदृष्टिकोण का होना जरूरी है चेखव का व्यग्य एक उदास कर देने वाला व्यंग्य इसीलिए है क्योंकि अफसर वर्ग और उनके मातहत काम करने वाले क्लर्क-समुदाय के बीच के अन्तर्विरोध के प्रति चेखव मे एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण था और वह इन दो पक्षों में निश्चित रूप से एक पक्ष के साथ था। जो व्यक्ति वर्गों के बीच मौजूद अन्तर्विरोधों की वास्तविकता को, और उनकी प्रगति की दिशा को, नही समझ सकेगा उसका व्यंग्य उतना ही स्थायी और प्रभावशाली होगा जितना कि पानी का बुलबुला होता है। यही कारण है कि आज जो लेखक ढोंगी शासक वर्ग के साथ जुड़े हुए हैं, और अपने वर्ग की, जिनका वे वैचारिक प्रतिनिधित्व करते हैं, वास्तविकता को समझ पाने मे असमर्थ हैं, वे आज व्यग्य साहित्य लिख सकने में भी असमर्थ हैं। उनके व्यंग्य उतने ही निर्जीव हैं, जितना उनका वर्ग और उतने ही हास्यास्पद हैं, जितनी उनकी स्वयं की स्थिति।

इंसान का मुक्तियुद्ध और व्यंग्य की सार्थकता

□ प्रदीप सक्सेना

अपनी बात मैं 'रैल्फ फॉक्स' के कथन से शुरू करना चाहूंगा—"आज मानव, हमारी समाज व्यवस्था के भरभरा कर ढह जाने के साथ उत्पन्न होने वाली बाह्य वस्तुगत विभीषिकाओं के खिलाफ, फासिज्म के खिलाफ, युद्ध के खिलाफ, बेकारी और कृषि के ह्रास के खिलाफ मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ, लड़ने पर बाध्य है। साथ ही उसे अपने मस्तिष्क के अदर इन सब चीजों के मनोगत प्रतिबिम्ब के खिलाफ भी लडना है। उसे लड़ना है दुनिया को बदलने के लिए, सभ्यता को बचाने के लिए और साथ ही साथ उसे मानव आत्मा में पूजीवादी अराजकता को खत्म करने के लिए भी लडना है।" और यह लड़ाई साहित्य के मोर्चे मे भी लड़ी जानी है। क्रांतिकारी शक्तियो को सही दिशा देने और उनकी पैमाइश करने के लिए, मानसिक गुलामी को मटियामेट करने के लिए और अन्ततोगत्वा अपेक्षित मानव जीवन व्यतीत करने के लिए।

यह सब क्यों है? आज हम उस दासता की जजीरों को तोडने के लिए क्यो आमादा हैं? पूर्व स्थिति को क्यों नकार रहे है? क्यों नही उन झोंपड़ों मे संतुष्ट रहते जिन्हे रहने की जगह सोचते हुए हसी आती है। क्यो नही वर्दाश्त करते अपने बच्चों का नंगा-भूखा रहना, गदापद एक-दूसरे पर गिरकर सोना, 'एक-एक मगुरी' पर लडना? आखिर अपना शोषण क्यों समझने लगे है? वह क्या है जो हमे पूजीवादी शक्तियों को परास्त करने की राय—हिम्मतो-जोश देता है? वह क्या है जो हमे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के षड्यन्त्रों को, मानव विरोधी रवैयो को; बताता, नफरत पैदा करता और उच्छेदन का आदेश देता है? वह क्या है जो साहित्य को मनोगतवादी, व्यक्तिवादी, पूजीवादी, प्रतिक्रियावादी, लिजलिजाहट, बलात्कार से मुक्त कर जनता से जोड़ता है? वह क्या है जो पूरे विश्व में अन्याय, अत्याचार और पूजीवादी आधारो पर टिकी हुई शक्तियो

के घृणित कृत्यों का पर्दाफाश करता है? आखिर में वह क्या है जो आदमी को रक्त का मानी-मतलब समझाता है और हजारों-लाखों के रक्त को बतौर शराब इस्तेमाल नहीं करने देता?

दरअसल मनुष्य को अपने कदमों और अपने बाजुओं पर काफी,कुछ कर गुजरने का अंदाज पैदा हो गया है। उसे ऐसे महान् आधार प्राप्त हो गये हैं जिनके बल पर वह एक सुखी मानवीय संभावनाओं के रक्षक संसार के निर्माण में जुटा हुआ है। प्रतिपक्षियों की सबसे ज्यादा कष्टकारक बात यह है कि उसमें मुक्ति की वांछा का लावा बहने लगा है। मुक्ति का गला घोंटने वालों की शिनाख्त बढ़ती जा रही है। श्रम का मूल्य और संभावनायें उसके सामने स्पष्ट होती जा रही हैं। श्रम की दुनिया में क्रांति की आवश्यकता को गोर्की ने आज से दशकों पूर्व पहचान लिया था और ऐसे साहित्य की सर्जना पर बल दिया था जो क्रांतिकारी ताकतों को एक-जुट और मजबूत कर सके। उन्होंने श्रम के महत्व और ऐतिहासिकता पर बल दिया और कहा—"मनुष्य के इतिहास की तुलना में मानव-श्रम का इतिहास अधिक रुचिपूर्ण और विश्वासयुक्त है। मनुष्य सौ वर्ष की आयु पूरी होने से पूर्व ही मर जाता है जबकि उसका कार्य या निर्माणात्मक सृजन शताब्दियों तक जीवित रहता है।"

श्रम-सन्निविष्ट कोई भी वस्तु-क्रिया-व्यापार अपने में महत् सौंदर्य की सृष्टि करता है। आजीविका और श्रम का आजीवन अटूट संबंध बना रहता है। हर सक्रिय स्थिति में कोई भी व्यक्ति या तो श्रम बेच रहा है या खरीद रहा है, विविध माध्यमों से। इसी अविभाज्य श्रम को लेकर एक विशाल वैज्ञानिक संज्ञान से मानव चेतना आलोकित हो रही है। यही संज्ञान एक लम्बी विभाजक रेखा खींच रहा है, श्रम के मठाधीश धूर्त क्रेताओं और लाखों-करोड़ों मेहनतकशों के बीच, उनकी संस्कृति और सभ्यता के बीच, रहन-सहन और जीवन स्तर के बीच, प्रत्येक बिन्दु पर। क्या यह व्यावर्तक रेखा केवल खिंचने के लिए है? या यह इंसान के मुक्ति युद्ध की सबसे जबर्दस्त मुहिम है? जिसके एक तरफ लाखों-करोड़ों भद्दे खुरदरे हाथ, कुलिश-कठोर गुट्ठल पैर, तनी हुई मुट्ठियां कंकालों में तब्दील होते हुए बलिष्ठ शरीर, भिंचे हुए पांव, श्रम से फूली हुई सांस

है और दूसरी तरफ धरती के स्पर्श से वंचित भद्रजन, सड़ी हुई संस्कृति के पुरोधा, पूंजीवादी व्यवस्था के परिचालक, अजगरी मशीनों के स्वामी, अराजक और तानाशाही वृत्तियों के पोषक हैं जो एक करामात की तरह मेहनतकशों का लहू नोटों मे तब्दील कर देते हैं। आदमी को छूते हैं और 'जनम-जनम' का हड्डियो से चिपका गोश्त गायब हो जाता है।

इन्ही के साथ निर्णायिक युद्धों की स्थितियों से सारा विश्व गुजर रहा है। यह इसान की मुक्तियुद्ध का भीषण काल है। सही मानवीय जीवन जीने की अकीदत और इच्छाओं से भरा हुआ। इस ख्वाहिश को साकार करने के लिए साहित्य भी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है, व्यंग्य साहित्य भी। व्यग्य जिसका उत्स व्यजना-शक्ति में अंतर्निहित है, अक्सर हास्य के साथ जुड़कर अपनी सार्थकता से वंचित होता रहा है। हास्य निम्नतर साहित्य मूल्यों में से एक है जो व्यंग्य पर घात ही करता है। व्यग्य 'स्पेशल रिफॉर्मेशन-रिवोल्यूशन' के लिए सक्रिय प्रतिबद्ध सच्चे साहित्य का अभिन्न अंग है। अहम् है। उसकी तीक्ष्णता जितनी गतिमान और पैठने वाली होगी उतना ही उसका असर न छूटने वाला होगा।

वास्तव मे यह एक अहम् मुद्दा है कि व्यंग्य क्यों लिखे जायें? क्या वह साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है? व्यग्य साहित्य मे अधिक सार्थक है या साहित्य व्यंग्य में? क्या कारगर व्यंग्य व्यवहार में सक्रिय है? व्यंग्य की सभावनायें कहां तक हैं? दरअसल व्यंग्य का कार्यक्षेत्र ध्येयानुसार बंटा हुआ है। व्यग्य पूंजीवादी मठाधीशो द्वारा भी लिखे जाते है, प्रतिक्रिया-वादियो द्वारा भी और वाम लेखकों द्वारा भी। इन सभी का उद्देश्य अपने-अपने तौर-तरीको से प्रहार करना है—अपने लक्ष्य पर। लेकिन कही ये व्यंग्य अपने प्रचार और प्रसार की आपाधापी की शिकस्त मे महज एक जलील तर्क अख्तियार करते है, कही ये पाठक दर्शक और श्रोता पर बहुत घूमकर प्रभाव डालते है।

व्यग्य की कई प्रक्रियायें होती है। एक प्रक्रिया समाज मे व्याप्त शोषण और दासत्व की गदगी ढकने की है। एक प्रक्रिया सस्ती उत्तेजना पैदा करने की है। एक प्रक्रिया आदमी के हाथ-पैरो पर भरोसा भुला देने की है। उसके मस्तिष्क में पराजय, हताशा और असामर्थ्य बोध पैदा करने की

है और इंसान को उस हालत में खडा करने की है जहां से वह या तो आत्महत्या के अतिशय करीब है या सूक्ष्म हत्या के। एक प्रक्रिया 'भारत-दुर्दशा' की है, एक 'हुजूर' की। एक 'राग दरबारी' की है, 'एक चूहे की मौत' की। एक प्रक्रिया कुल्लीभाट बिल्लेसुर बकरिहा की है एक आश्रितो के विद्रोह की। एक प्रक्रिया काली किताब की है एक हीरक जयन्ती और 'मुरदाघर' की। वृत्तिगत रूप से एक प्रक्रिया पूजीवादी प्रतिक्रियावादी पराधीन लेखकों की है तो दूसरी ओर मशक्त प्रक्रिया वाम [लेखकों की। अब यही तो यह प्रश्न और गहरा होता है कि आखिर व्यंग्य की सार्थकता? क्योंकि यह व्यग्य अज्ञेय, भारती, जैनेन्द्र, कमलेश्वर के हाथ मे भी मुर्दा है जिसकी इयत्ता जनता के मनोबल को रौद डालने मे ही है। उसे अध्यात्म और व्यक्तिवाद के जंगल मे भटका-भम्काकर मारने में है उन शक्तियों के पोपण की है जो जनता को चूमने मे सब कुछ भूल कर लगे हुए है।

इसे अधिक विस्तार में न खीचकर हम अपने विषय पर लौटते है। प्रत्येक गतिमय पदार्थ की तरह मानव मे विरोधी शक्तिया कार्य करती है, बल्कि कहें जूझती रहती है। कोई भी कार्य अपनी निष्पत्ति में एक शक्ति का दूसरी पर विजय का परिणाम होता है। व्यक्तिगत जीवन में जो कार्य लाभप्रद नही होते, या सीमा के अतिक्रमण स्वरूप समाजशास्त्र की दृष्टि में अपराध, आचारशास्त्र की दृष्टि मे अनैतिक और धर्म की दृष्टि में पाप कहलाते हैं दूसरी तरफ जो कार्य फलप्रद और जीवन को उन्नत बनाते हैं वे क्रमशः नैतिक, पुण्य और सत्कृत या कर्तव्य कहलाते है। इन सब अनुसंधानों से परे भी कुछ कार्य ऐसे होते है जो धर्म के अनुसार पुण्य लेकिन मानव-विरोधी होते है, नैतिक होते है और इसी नैतिकता के तहत इंसान की मौत का सरो-सामान इकट्ठा करते हैं, सामाजिक दाय के नाम पर ऐसा 'पटेला' चलाते हैं कि कोई भी सिर ढेले की तरह 'समतल' के खिलाफ न दिखाई दे।

हम जानते हैं कि व्यंग्य भी कला का एक संघटक है जो अति व्यापकता से हर विधा मे विद्यमान है। नाटक, निबंध, कहानी, उपन्यास, कविता, चित्र, सगीत सभी क्षेत्रों में उसकी पहुंच हो, यह पहुंच तुरंत प्रभावी है। एक युग था कि द्रौपदी व्यग्य से हंसी थी और इसकी पूरी कीमत उसे

चुकानी पडी थी। सारन्धा ने व्यंग्य किया कि अनिरुद्ध उलटे पैर लौट गया और जीत कर ही लौटा। अष्टावक्र से लेकर जायसी तक आते-आते कई तरह के स्थूल व्यंग्य-प्रसग प्राप्त होते हैं जो तात्कालिक स्थितियों मे व्यग्य के फौरी असर को जाहिर करते हैं। व्यग्य शब्द-संपदा में तो है ही, विविध आंगिक चेष्टाओं, प्रक्रियाओ, कार्य-कलापो के बीच आयतरित है। उस व्यग्य की इयत्ता मात्र चित्त-वृत्ति के क्षणिक सतोप प्राप्त कर लेने तक है। ये विविध विन्दु 'वक्तृ वैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्य, वक्तृ वैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य तथा वोधव्य वैशिष्ट्य, वाच्य पर निर्भर करते हैं।' पृथक्-पृथक् ये बिन्दु यो है—(१) वक्तृ वैशिष्ट्य की विशेपता के कारण, (२) वोधव्य की विशेपता केकारण, (३) कण्ठ ध्वनि की विशेपता के कारण, (४) वाक्य वैशिष्ट्य के कारण, (५)वाक्यार्थ की विशेपता के कारण, (६) व्यक्ति के सान्निध्य की विशेपता के कारण, (७) प्रसग की विशेपता के कारण, (८) देश की विशेपता के कारण और (९) कला की विशेपता के कारण। यहां हम इसके सैद्धांतिक अध्ययन को प्रस्तुत न कर व्यावहारिक विश्लेपण के माध्यम से साहित्य मे व्यंग्य के दाय पर विचार करेंगे। व्यग्य की आवश्यकता को लेकर हम एक ही वाक्य कहना चाहेंगे कि व्यंग्य किसी भी पूर्णत्व के अभाव के आभास और संबंधित वस्तु के प्रति चैतन्य लाभ और उसके रिफॉर्मेशन का प्रयास है।

समाज जीवन की नियामिका और नियोजिका सस्था है जिसके अंदर व्यक्ति का शख्सी विकास निर्भर होता है। यह विकास समाज की निर्धारक राजनैतिक व्यवस्था पर ही मूलतः केन्द्रित है। आज इसी केन्द्रीय धुरी को जनता की धुरी बनाने की कोशिश वामपंथी लोगों द्वारा की जा रही है जिसमें साहित्य भी अपनी जगह से और व्यंग्य साहित्य में एक अहम् रोल अदा कर रहा है।

जिस देश की जनता जितनी ही जागरूक और सचेत होगी वहा किसी तरह की धींगामुश्ती और धांधलेबाजी की कम-से-कम गुंजाइश होगी। पूंजीवादी और तानाशाही व्यवस्थाओं के तहत जनता को पंगु और निर्जीव करने की कोशिशें बराबर जारी रहती हैं। संघर्षशील हाथों मे ऐसे साहित्य को दूर रखा जाता है। किसी भी देश की लड़ाकू जनता को इन सब इंकिलाबी तौर-तरीकों और रिसालों से महरूम करके ही व्यवस्था

जड़ जमाती है। गोर्की ने इस बात को बहुत बेहतर तरीकों से प्रस्तुत किया था और स्पष्ट कहा था—"सत्ताधारी वर्गों ने हमेशा ज्ञान पर अपना एकाधिकार कायम रखने की कोशिश की है और हर सभव तरीके से जनता को उससे वचित रखा है। जनता को केवल उन्होंने सूत्र में ही ज्ञान दिया है ताकि अपनी सत्ता को और मजबूत करने के लिए वे उसका इस्तेमाल कर सकें।" लेकिन मानव मुक्ति की वाछा-तड़प एक कांति युक्त मणि की तरह होती है जिसके आलोक से जनता को वचित नही किया जा सकता। साहित्य कर्म महज बुद्धि के चमत्कार का अखाड़ा नही है, एक बड़ी जिम्मेदारी है। खास तौर से उस हालत मे जबकि वह अपने साथ जनवादी सज्ञा को जोड़े हुए है। जनता से गाढ़े प्यार के अभाव में वह कितना भी महानतम क्यों न हो जन-प्रतिनिधि की हैसियत नहीं रखेगा। बेशक जनता को भुलावे में रखा जाता है लेकिन आने वाले समय में ऐसा ही होता रहेगा यह नामुमकिन है। व्यंग्य उस भुलावे की स्थिति को दूर कर उसे झिझोड़ता है और जगाकर बिठाने की कोशिश करता है। हम जिस व्यंग्य की बात करेंगे वे प्राय: वाम लेखन से सबद्ध है।

अपनी बात हम कबीर से शुरू करेंगे। कबीर, कवि पहले हैं या बाद में? सवाल यह है कि जन-जागरण के प्रति सामाजिक परिष्करण के लिए एक खास किस्म की प्रतिबद्धता उनमे सुलभ है। कबीर मे कहने का साहस था। उनमे वह सब था जो किसी भी सच्चे कवि में होना चाहिए। उनके व्यंग्य की दिशा 'सोशल रिफार्मेशन' है जोकि उसका विकल्प वे अध्यात्म क्षेत्र में ही खोजते हैं। यह दूसरी तथा तात्कालिक स्थितियों की स्वाभाविक बात है। छिन्नमस्ता युग मे कबीर ने खूब व्यग्य उठाये। यह व्यंग्य अपने व्यापक रूप मे दो विशिष्ट और विराट जाति हिंदू और मुसलमानों को लेकर है। ये सभी निर्माणात्मक थे, प्रगतिबोधक थे। इन सबका मानी-मतलब सांस्कृतिक एकता, व्यावहारिक एकता थी और ईश्वर जैसे विवादास्पद बिन्दु पर ये व्यग्य पूरी सार्थकता से टिके। 'कबीर' ने ऐसे काल में जन्म लिया था जिस समय भारत की सांस्कृतिक अवस्था अत्यत उतार पर थी। उन्होने बहुत जमकर हर पहलू पर प्रहार किए।

यों व्यवस्थित और जमे हुए तरीके से व्यंग्य का प्रसार भारतेन्दु तथा

उनके सहयोगी लेखकों के द्वारा हुआ। भारतेन्दु अपने को लोगों का परम बन्धु, पिता, मित्र, पुत्र, सद्भावनाओं से भावित प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आशय, सौजन्य का एकमात्र प्रात्र, भारत का एकमात्र हित, हिन्दी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता (प्रेम योगिनी) अपने लिए मानते थे। वे सच्चे अर्थों में उक्त स्वकथित विशेषताओं को पूरा करते थे। उनके मानस मे जनता के प्रति सहानुभूति का समुद्र उमड पडता था। बेशक ! वे मार्क्सवादी नही थे लेकिन जनवादी अर्थ मे वे हमसे कही प्रौढ और आगे थे। अपनी संपत्ति, अपनी प्रतिभा और क्षमता का जितना गहरा प्रयोग उन्होंने किया वह दुर्लभ ही है।

अब उनके व्यग्य पर विस्तार से सोचें। कविता मे वे रीति-कालीन और भक्ति-कालीन संस्कारो से दबे हुए थे किंतु उनका सबसे चैतन्य रूप उनके नाटको मे दिखाई पड़ता है। यो भी जन-मानस में प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक स्तर पर कोई भी चेतना फैलाने के लिए नाटक ब्रह्मास्त्र का काम करता है। सीधे जेहन मे असर डालने के लिए यह 'चाक्षुष यज्ञ' बेहद सार्थक है और भारतेन्दु ने सबसे पहले इधर ध्यान दिया।

वस्तुतः मनुष्यो की कोई भी पीढी जब भी अपने जीवन क्षेत्र में प्रविष्ट होती है तो उसे सामाजिक स्थितियों का तैयार धरातल प्राप्त होता है जिसके इर्द-गिर्द राजनैतिक-आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियां सक्रिय होती है और मनुष्य या तो उनके आगे समर्पण करता है या नवीन स्थितियो को प्रत्युत्पन्न तथा पूर्व स्थितियो को बदलता है और भारतेन्दु ने भी नयी परिस्थितियो को पैदा किया और पुरानी को बदला।

भारतेन्दु ने पूरे के पूरे नाटक व्यग्य मे लिखे और ऐसे व्यग्य लिखे जिसे कहने के लिए काफी मजबूत और विशाल कलेजे की जरूरत होती है। व्यंग्य का यह स्तर तात्कालिक परिवेश में बहुत प्रौढ था। ये व्यग्य प्रायः डायरेक्ट और स्थूल हैं। दांव-पेंच से मुक्त। लेकिन महत्तम सामाजिक चेतना प्रवाहित करने के लिए इनका बड़ा योगदान है। दरअसल भारतेन्दु की दृष्टि और समझ काफी साफ थी। वे जानते थे कि 'अंग्रेज विलायत से आते हैं। प्रायः कैसे दरिद्र होते है और जब हिंदोस्तान से अपने

विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते है।' वे अपनी जनता के दुख-दर्द से परिचित थे। किस तरह से '२६-२६ करोड़ रुपया बाहर जाता हैं और कपडा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले आदि सब भीख मांगते है। खेती करने वालों की यह दशा है कि लगोटी लगाकर हाथ मे तूबा ले भीख मांगते है।'

यही जन-प्रेम उन्हे उस स्थान पर ले जाता है जहां किसी भी महान् साहित्यकार को होना चाहिए। भारतेन्दु व्यक्ति नही, एक सस्था थे जो जनता की अपनी थी। राहुलजी ने उन्हे 'परिवार' के साथ जोडा था। आचार्य शुक्ल ने लिखा कि उन्होने अपनी रचना सामग्री कई क्षेत्रों से ग्रहण की। नये और पुराने का एक द्वंद्वरूप उनमे प्राप्त होता है। यहा हम सिर्फ उनके व्यंग्य को लेते हैं। पाखड और आडम्बर पर गर्व करने वाले श्रीमानों की सिद्धि और स्वरूप भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति' में चित्रित किया है। यद्यपि ये व्यग्य हास्य के निकट पहुंच जाते हैं किंतु तात्कालिक परिवेश शून्य साहित्यिक समझ के माहौल मे ये व्यग्य बहुत सार्थक थे। व्यंग्य के क्षेत्र मे आकर वे ईश्वर तक को नही बखशते जो कविता मे तथा चन्द्रावली के प्रेमी के रूप मे उनका प्राणाधार है। उन्होंने धार्मिक अंध-आस्थाओ का जबर्दस्त खडन किया जो अफीम की तरह मानव बुद्धि को अपने जहर से कुठित किये रहती है—

बहु बकरा बलि हित कटैं जाके बिना प्रमान।
सो हरि की माया करै सब जग को कल्यान।

हर जगह वे अपना व्यग्यात्मक रुख बरकरार रखते हैं। इसके लिए वे रग सकेत से लेकर पात्रों के नामकरण तक मे अपना आशय स्थापित करते है। दो काम वे एक साथ करते है, सबद्ध चरित्रो का पर्दाफाश और व्यंग्य का प्रस्तुतीकरण। पुरोहित जी ही श्लोक पढ़ते हैं—

'न मासभक्षणे दोपो न मद्ये न च मैथुने—

और फिर वह पद गाने लगता है—

'धन्य वे लोग जो मांस खाते। मच्छ, बकरा, लवा, ससक, हरना, चिड़ा, भेड़ इत्यादि नित चाभ जाते।'

यहा तक कि नेपथ्य तक से यह पद गाया जाता है—

ये व्यंग्य क्रमश: जीवन के नैतिक और धार्मिक मूल्यों से जुड़े हुए थे जोकि इनका सामाजिक पक्ष आत्यतिक रूप से प्रबल था। अब हम भारतेन्दु के सामाजिक पक्ष को ही लें तो पायेंगे कि अपने देश की प्रगति की आकांक्षा कितने विराट स्तर पर उनमे विद्यमान थी। सबसे बडा सामाजिक कोढ़ स्त्री-परतन्त्रता को उन्होंने पहचाना, जिसके खिलाफ 'चांद' कई बरसों बाद तक चीखता रहा था। यह विचारणा उनके प्रगतिशील पक्ष को मजबूत करती है और तुरन्त एक साकारात्मक विकल्प भी तलाशती है। "जब मुझे अंग्रेजी रमणी लोग मेद सिंचित केशराशि, कृत्रिम जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित क्षीण कटि देश कसे, निज-पतिगण के साथ, प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फर कर कल की पुतली की भांति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है।" इसी दुख से उत्प्रेरित होकर वे नीलदेवी की रचना करते हैं और स्त्री संभावनाओं को प्रकट करते है और उसके कैद से बाहर उडने की ताब को पैदा करते हैं।

भारतेन्दु की आत्मा का हाहाकार हमे 'भारत दुर्दशा' मे देखने को मिलता है। अपनी धरती के प्रति गाढ़ ममत्व, उसके उद्धार की वांछा यहां अति व्यापक रूप से विद्यमान है। यहा तक कि दुर्दशा के उपांग ही उसके पात्र रूप में प्रस्तुत कर नवीन शैली मे सामने लाये गये है। कितनी गहरी पीड़ा इस नाटक मे उभरी है। भारत दुर्दैव अपना परिचय देता है। सत्यानाश फौजदार के कथन और आगे बढ़ जाते है—

बहुत हमने फैलाये धर्म।
बढाया छुआछूत का कर्म।
होके जयचद हमने एक बार।
खोल ही दिया हिंद का द्वार।

सत्यानाश फौजदार के सभी कथन व्यग्य से लैस हैं—आहत करने वाले। व्यंग्य की सूक्ष्मता और प्रगतिशील दृष्टि का सामजस्य यहां देखते ही बनता है। "वेदांत ने बडा ही उपकार किया। सब हिंदू ब्रह्म हो गये। किसी को इति कर्तव्यता बाकी ही न रही। संतोप ने भी बडा काम किया।

'सतोप परम सुख' रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं। निदयमता ने बडी सहायता दी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोल मारे कि अंटाघार कर दिया। घूस और चदे के बम के गोल चलाये।" और यह व्यग्य तो देखें—"धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों मे भी न बची, समुद्र के पार ही शरण ली।" इसी दुर्दशा मे गोरा शाही की न्यायप्रियता; जिसका कलगायन अभी तक हमारे बुर्जुर्गान करते हैं; भारतेन्दु के खयाली किताबखाना के दृश्य मे देखी जा सकती है जहा 'डिस लायल्टी' कहती है—"हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि वचनसुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यो उसे पकड़ने को हम भेजे गये? हम लाचार हैं।" इसके अतिरिक्त प्रेमयोगिनी, विपस्य विपमौपधम, पांचवें (पूसा) पैगम्बर और सुप्रसिद्ध एकाकी 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का नाम विशेपकर लिया जा सकता है। भारतेन्दु की यह रचना (अंधेर नगरी) जोकि एक ही दिन मे रची गयी लेकिन यह महानतम इस अर्थ में है कि यह हमारी विशाल जनता की धरोहर बन चुकी है। साहित्यिक प्रतिमानों को लेकर इसे कितना ही कोसा जा सकता है लेकिन वह व्यंग्य की दृष्टि से अन्यतम है।

"हरिश्चन्द्र के जीवन काल में ही लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया। उपाध्याय पडित बदरी नारायण चौधरी, पडित प्रताप नारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्री निवास दास, पडित बालकृष्ण भट्ट, पडित केशवराम भट्ट, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पंडित राधाचरण गोस्वामी, आचार्य शुक्ल आदि कई लेखकों ने प्रौढ व्यग्य रचनाए प्रस्तुत कीं।

श्री प्रताप नारायण मिश्र ने भी जनता से गहरा तादात्म्य स्थापित किया—

"यह जिय धरकत यह न होइ कहूं कोउ सुनि लेई।
कछू दोप दै मारहि अरु रोवन नहिं देई।"

मिश्रजी हास्य-विनोद के लिए प्रायः प्रसिद्ध हैं, व्यंग्यकार की शक्ल मे नही। उनके व्यग्य सामाजिक परिवेश को मथकर बाहर आये हैं। उनकी

लम्बी कविता 'तृण्यताम' को इस सदर्भ में कुछ अशो में देखा जा सकता है—

"महगी और टिकस के मारे हमहिं क्षुधा पीडित तन छाम।
साग-पात लौ मिलहिं न जिय भरि लेनों वृथा दूध को नाम।
जह निज दुखहु न रोय सकत है प्रजा खरीदे बिन इस्टाम।
तह तव हित हे धर्मराज जू कहा नमस्ते तृण्यताम।

पिशाच मसानों में क्रीडा करते है परन्तु हाड-चाम के ढाचो मे रक्त की बूद का नाम नही है—

मुख सों खेलहु खाहु माजहु तन जो कुछ मिलै हाड़ औ चाम।
लहौ जु एको बूंद रकत तो बसि पिसाच कुल तृण्यताम।

बाल कृष्ण भट्ट ने भी 'रेणु-सहार' में बहुत अच्छे व्यग्य उठाये है। उदाहरण के लिए यह—"कौन राजा के विरुद्ध गाना गा रहा है। ठहर, ठहर अभी आय तेरा सिर कच्चे घडे के समान फोड चूर-चूर किये देता हूं। हवा पछिआंव जब से चल पड़ी है, नकलची भाइयों की बन पड़ी है।" यहा तक आते-आते व्यग्य एक अस्त्र की तरह थम गया। स्थूलता से सूक्ष्मता मे उसका संक्रमण हुआ।

वस्तुतः व्यग्य के निरतर पैने होते जाने और गहन प्रभावी होने मे जनवादी चेतना का गहरा योगदान है। मार्क्सवाद की उर्वरा धरती से उपजा यह पौधा जो आज एक विशाल बरगद की शक्ल ले रहा है, उस वक्त भी जब यह छोटा था लेकिन उसकी गध शुरू से ही तेज और छाया सघन थी। इसकी सार्थकता को प्रेमचद ने पहचाना था। उसे पचा-पचाकर लिखा था। उपन्यासों से लेकर कहानियों तक मे चरित्र-चित्रणो से लेकर सामाजिक स्थितियों के सर्वेक्षण तक मे इस तलवार का उपयोग उन्होंने किया। गोकि ये व्यग्य जगह-जगह उनकी आदर्शवादिता, गाधीवादी विचारणा और उपदेशात्मकता से 'ब्लट' हो जाते हैं। बाद की कहानियों में यह पूरी सार्थकता के साथ उभरकर आया। 'कफन', 'पूस की रात' सम्पूर्ण व्यग्यात्मक रचनायें हैं। इससे पहले की प्रसिद्ध कहानिया जरीमाना, सवा सेर गेहूं, मत्र, निमत्रण, शतरज के खिलाडी, लेखक आदि व्यग्य का पुष्ट आकलन है।

निराला ने भी बहुत जमकर इस क्षेत्र में काम किया बिल्लेसुर-बकरिहा, कुल्ली भाट जैसी लघु कायिक गद्य कृतियों के अतिरिक्त बेला, नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, दान, तक एक लम्बी व्यंग्य यात्रा का प्रस्तुतीकरण है। 'सरोज स्मृति' में भी एक पिता की आहत आत्मा ने तात्कालिक समाज की धज्जियां उड़ा दी हैं। रांगेय राघव ने 'हुजूर' के माध्यम से सामाजिक शल्य चिकित्सा का बहुत बड़ा कार्य-भार संभाल। यशपाल की अधिकांश कहानियों में व्यंग्य शरीर में सांस की तरह से काम कर रहा है। धर्मयुद्ध, कोकला डकैत, होली नहीं खेलता, परदा, शिव-पार्वती, नारी की ना, खच्चर और आदमी, पराया सुख आदि के अतिरिक्त कथात्मक निबंधों के संकलन 'न्याय का संघर्ष' को इस दिशा का अहम् कदम माना जा सकता है। सामाजिक यथार्थ, दफ्तरशाही, पूंजीवादी व्यवस्था के अभिशाप विष्णु प्रभाकर ने भी व्यंग्य के द्वारा चित्रित किये हैं। खासतौर से 'धरती अब भी घूम रही है' को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है।

भीष्म साहनी और अमरकांत की कहानियों ने क्रमशः मध्यवर्गीय जीवन तथा शोषित जीवन को लेकर महत्त्वपूर्ण काम किया है। इसके अतिरिक्त समस्या नाटकों ने सामाजिक चीरफाड़ का काम करके व्यंग्य की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

फिर से कविता की ओर लौटें तो देखेंगे सन् ३० के आसपास डॉ० रामविलास शर्मा ने इसे अंग्रेजी शासन के प्रति नफरत और जनता में जागरण लाने के लिए इस्तेमाल किया और काफी बाद तक वे यदा-कदा इसका पुरअसर इस्तेमाल करते रहे। उनकी प्रसिद्ध कविता 'सर पदमपत का तराना' की कुछ पंक्तियां देखी जा सकती हैं—

> खुली है थैली आओ जी।
> नया तुम संघ बनाओ जी।
> मजदूरों की सभा में रहना है बेकार।
> पैसा ही नेता यहां पैसा ही सरकार।
> जहर उगलते हैं बहुत कम्युनिस्ट अखबार।

आजादी के हस्तान्तरण के बाद भी रामविलास की कलम ने झिझो-

इना जारी रखा। ब्रिटिश अमरीकी गुट से संगठन, अमरीकी पूंजी-सहयोग आदि को लेकर कवि ने पूरे गले की आवाज से लिखा। कवि की हैसियत से उन्होंने काफी 'कमिटिड' रचनायें दीं। इसके अतिरिक्त महेन्द्र भटनागर, रामेश्वर शुक्ल अंचल, करुण आदि ने इस क्षेत्र में काफी काम किया। एक वक्त था कि दिनकर भी इधर आकृष्ट हुए थे और सीना फुलाकर व्यंग्य से कहते थे—

टोपी कहती है मैं थैली बन सकती हूं।
कुरता कहता है मुझे बोरिया ही कर लो।
ईमान बचाकर कहती हैं आंखें सबकी।
बिकने को हूं तैयार खुशी हो जो दे दो।

दिनकर तो दिनकर, पतजी भी लिखने लगे थे। यहीं प्लेखानोव के एक कथन को उद्धृत करना चाहूंगा जो जनवादी मोह के शिकार लोगों के प्रति बडा जिम्मेदार है—"जिस प्रकार सेब के पेड़ से सेव ही पैदा होगा और नाशपाती के पेड़ से नाशपाती ही, उसी प्रकार जो भी कलाकार मध्यवर्गीय दृष्टिकोण ग्रहण करेगा, अनिवार्यतः श्रमिक आंदोलन के विरुद्ध हो जायेगा।" इन लोगों के साथ, और कई अपने ही खेमों के लोगों के साथ, अक्सर ऐसा ही हुआ है, होता है। क्योंकि वे कहीं-न-कहीं व्यक्तिगत जीवन में बुर्जुवा संस्कारों से आक्रमित होते है, क्योंकि उनमे प्रतिबद्धता निहायत हल्की-फुल्की स्थिति में होती है। क्योंकि कहीं-न-कहीं वे चमकदार मान्यताओं और संस्थानों के मिस्मेरिज्म के शिकार हो जाते हैं। क्योंकि वे जनता के आधारों से ढीली तरह से जुडे रहते है, क्योंकि वे सस्ते यश की गिरफ्त में आ जाते है।

नागार्जुन को हम इस व्यंग्य की प्रक्रिया के तहत एक समर्पित व्यक्तित्व, एक जबर्दस्त सर्जक कहेंगे। बेशक ! उन पर जान-बूझकर न लिखा गया हो लेकिन उनका प्रदेय जनवादी अर्थ में इंसान के मुक्तियुद्ध को बल प्रदान करने वाला है। वे जनता के बीच से जनमे सच्चे सर्वहारा कवि हैं। यद्यपि उनकी हिन्दी से इतर भाषा मे की गयी रचनाओं का रस मैं ग्रहण न कर सका हूं फिर भी उनकी हिन्दी रचनाओं पर अनेकशः मुग्ध हुआ हूं—विशेषकर उनकी सीधे संबोधन करने वाली रचनाओं से। व्यंग्य की यह सिद्धि और

सार्थकता सही मार्क्सवादी समझ के कारण और कला के जीवन को जीवन के लिए ग्रहण करने के कारण ही है। क्योंकि सारे विश्व में छटपटाती संघर्ष करती मानवता को मूनी हुई रीढ़ो वाले तानाशाहों से जूझने के लिए खड़ी करने में राम साहित्य ही सक्षम है। वही मानवता का पोषक, रक्षक और हित-चितक है। जहां भी इसान स्पार्टाकस बना है व्यंग्य ने उसकी समझ को पैनाया है और शत्रु की तस्वीर एकदम साफ पेश की है। 'इमरतिया' हो या रतिनाथ की चाची, 'वलचनमा' हो या 'नई पौध' नागार्जुन व्यंग्य की बर्छी लिये तैयार हैं। कविताओं में सर्वत्र उनकी इस वृत्ति को स्वस्थ रूप मे पाया जा सकता है। जहां भी मौका देखा, रत्ती भर भी गुंजाइश मिली कि उन्होंने प्रहार किया। 'काव्यधारा' मे काफी पहले एक कविता उनकी छपी थी 'बडा साहब'। देखें—'छोटे-छोटे बाल छंटे हैं, चिकनी मोटी गर्दन··· यही हुकूमत का इंजन चलाते हैं। आई० सी० एस० लदन हो आये है। तीन हजार रुपये वेतन पाते हैं। दामाद मुन्सिफ है। भतीजा तरक्की पर तरक्की करता जा रहा है और बेटे ने दामोदर वैली कार्पोरेशन पकड रक्खा है।

इसके अतिरिक्त उनकी अन्न पच्चीसी अकाल और उसके बाद, प्रेत का बयान, मत्र, जयति जयति जय सर्वमगला, कवितायें इसी दिशा की सार्थकता को प्रमाणित करती है। इन सब में घनिष्ठ व्यंग्यों के कोप जैसी दो ही कवितायें हैं—मंत्र और जयति जयति जय सर्वमंगला। दरअसल ये सब वैचारिक प्रौढ़ता और ठोस प्रतिबद्धता की वजह से ही हैं। पूरे के पूरे समाज को इसके दायरे मे उन्होंने फांसा है—औपन्यासिक कृतियों से लेकर काव्य की यात्रा तक। उनके व्यंग्यों मे, जो कि वे प्राय. राजनीतिक ही हैं, जन-चेतना के निर्माण के ताव कूट-कूटकर भरे हैं। इन व्यंग्यो ने बाद की 'डायरेक्ट' कविताओं में और भी बडी जमीन तोड़ी है जो उनके साहस, उनकी चेतना और हक की लडाई की सही समय को अभिव्यक्त करती हैं। यहा मैं कह सकता हूं कि व्यग्य का इस्तेमाल एक सक्रिय योजना के तहत जुझारू हाथों को एकजुट करने और निरंतर क्रियाशील रखने के लिए; महती यात्रा को निकले हुए कदमों को बल प्रदान करने के लिए; इंसान के मुक्तियुद्ध को विकसित-उत्प्रेरित करने के लिए; समाज

के ठेकेदारों की व्यवस्था के पक्षधरों की छल-छद्मों से युक्त जन-विरोधी नीतियों का; जन-विरोधी रवैयों का; पूजीवादी चरित्रों का भडाफोड़ करने के लिए बड़ी सार्थकता के साथ किया गया है।

कलात्मक क्षमता, जनवादी सौंदर्यबोध और स्थितियों की चीर-फाड़ का अद्भुत सम्मिश्रण है उनकी कवितायें। यहां सिर्फ दो कविताओं की कुछ पक्तियों को हम उद्धृत करेंगे जिनकी व्याख्या स्थानाभाव से नहीं कर पायेंगे—

पुश्त-पुश्त की यह दरिद्रता
कटहल के छिलके जैसी-जीभ से
मेरा लहू चाटती आयी फरमोसा हो या जापान हो
वियतनाम हो या कि कोरिया।
यह समग्र एशिया इन्ही का चरागाह है।
अन्न चाहिए हमें, इन्हे ककाल चाहिए
नमक चाहिए हमे, इन्हे बारूद चाहिए।
दिल दिमाग को सपने में भी गरम न होने देना बाबू !
ले रहा जंभाई
हिटलर मुसोलनी का भाई
तुम्हारे लिए तो सिर्फ
तनन तनन तुन, तुन तुन, तुन तुन।
सुबह राम धुन शाम राम धुन।
पेटी में पिस्तौल संभाले अमन चैन के बोल अधर पर
अब भी बाइबिल बांट रहे है गोरी चमड़ी वाले बर्बर।
हमें शान्ति की सीख दे रहे चील-गीध के चचे भतीजे।
हमे शील का पाठ पढाते
टाई कॉलर सूट-बूट से लैस बाघ भेड़िये।

(जयति जयति जय सर्वमंगला)

यहीं कुछ सार्थक व्यग्य 'मंत्र' से भी उद्धृत करना एक दूसरे पक्ष पर प्रकाश डालने के लिए उचित ही होगा। यह पूरा व्यग्य व्यवस्था की असमंजसपूर्ण अन्धकारपोषिणी वृत्तियों पर प्रहार करता है। उनकी जन-

संवद्धता का इन्द्रजाल, प्रगति की योजनाओं के सब्ज बाग, नित्य नये से नये मरहलों की जनता के भटकाव की कोशिश, आपकी प्रस्तुति और जनविरोधी रवैयों की एक कूट धूर्त्तता के तहत लागू करने, सामान्य जन-मन-विचारणा और अपनी स्थितियों को लेकर यह व्यंग्यात्मक कविता उनकी कविताओं में अन्यतम है। वस्तुतः इस कविता का कोई अंश ऐसा नही है जिसे छोड़ा जाये। सम्पूर्ण कविता ही उद्धृत करने योग्य है लेकिन यहां खडार्थों से युक्त कुछ पंक्तियों से ही पूरी कविता का ढाचा और मूल स्वर उकेरने की कोशिश करेंगे—

ओं सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ।
ओं कुछ नही, कुछ नही, कुछ नही।
ओं हमी हम ठोस, बाकी सब फूटे ढोल।
ओं एतराज, आक्षेप, अनुशासन।
ओं गद्दी पर आजन्म वज्रासन।
ओम्भार, भार, भार, भार, मार, मार, मार।
ओं अपोजीशन के मुंड बनें तेरे गले का हार।
ओं महामहिम, महामहो, उल्लू के पट्ठे।
ओं दुर्गा दुर्गा दुर्गा तारा तारा तारा।
ओं इसी पेट के अन्दर समा जाये सर्वहारा।

आज आकर यह व्यंग्य वाम साहित्य का प्रमुख अंग बन गया है। कविता इसकी सार्थकता की सिद्धि में सहायक एक विशिष्ट विधा रही है। ज्यादातर कवियों ने इसे अपनी सर्जना के आधार स्वरूप ग्रहण किया है, बल्कि पिछले पांच-सात वर्षों के दौरान जो लम्बी लहर उठी है, जिससे स्पष्ट वामपंथी लेख के सम्मान का विकास और सम्पुष्टि हुई है, उसकी आंतरिकता में व्यग्य व्यापा है। संसदीय बोध के तहत धूमिल ने कई व्यंग्य उठाये। अपनी लम्बी रचना 'पटकथा' मे उन्होंने कई सार्थक व्यंग्यों की सृष्टि की। इसी बोध की परम्परा से मध्यवर्गीय जीवन से कुछ व्यंग्य लीलाधर जगूड़ी ने चुने और उनका परपरात्मक इस्तेमाल किया। विजेन्द्र, श्रीराम तिवारी, श्री हर्ष, कुमारेन्द्र, पारसनाथ सिंह, आलोक धन्वा, मनमोहन, अशोक चक्रधर, ऋतुराज, वेणुगोपाल आदि ने इस दिशा में

स्थल-स्थल पर प्रदेय प्रस्तुत किया हो।

लघु पत्रिकाओं के माध्यम से विशेषकर 'उत्तरार्द्ध' बल्कि कहें उत्तरार्द्ध ही के द्वारा अधिकतर चलाये गये नुक्कड़ नाटकों के अभियान के माध्यम से भी व्यंग्य ने अपना दिशा-विस्तार किया है और एक मजबूत आधार ढूंढने की कोशिश भी की गयी कि वह जनता के बीच इस 'चाक्षुष यज्ञ' के माध्यम से सक्रिय हो सके। यद्यपि किन्हीं परिस्थितियों में इसका मचन नही होता और कलात्मकता तथा नाटकीय रचना-प्रक्रिया के तत्त्वाभाव में उनकी साहित्यिकता उस रूप में सार्थक नही किन्तु जनचेतना के प्रसार के लिए यह सशक्त 'मीडियम' है।

व्यग्य के दायरे में राजनैतिक स्थितियों की चीर-फाड़ करने से ही हमारा काम पूरा नही होता। सम्पूर्ण सामाजिक बदलाव का दाय, क्रांति का दाय हमारे कधों पर है। अनन्त आकांक्षाओं और अपेक्षाओं के साथ। धर्म ने इस धरती पर अपने अखाड़े मे जनता को पटक-पटककर क्षत-विक्षत कर डाला है। जिस तरह से हर साल अपने मुल्क के कुछ खास कारखानो द्वारा नये योगेश्वर, अवतार-देवता और देविया ढाल दी जाती है जो हर बार एक नये तरीके से जन-मुंडन और बुद्धि को जड़त्व देती हैं, हर बार जनता की आखें मक्कार व्यवस्था के नियत्रकों, हत्यारों की तरफ से हटाकर शिनाख्त की क्षमता को कुंठित करके अतीन्द्रिय लोक की शरण देती है उन सबके खिलाफ व्यग्य को तैयार होना होगा। नैतिक शोषण के खिलाफ तथा अन्य सामाजिक परम्पराओं, सीढियों, बेडियों का भंजन भी व्यग्य को करना है, एक ऐसा जुझारूपन और पैनापन लाना है जो पूजीवाद और इसके बधु-बांधवों को काटकर रख दे। अपने निजत्व को पाने के लिए, सच्चे मानवीय इतिहास के निर्माण के लिए, छिड़े हुए इसान के मुक्तियुद्ध में व्यग्य को आमूल परिवेश को समूल चीरना होगा। व्यंग्य साहित्य की अक्षय निधि और वामकला का अभिन्न अंग होकर अपनी सिद्धि और सार्थकता को प्राप्त कर सकेगा।

व्यंग्य क्यों ?

□ अमृत राय

१. दुनिया में ढोंग-ढकोसला बहुत है—और अपनी इस स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि में तो शायद सबसे ही ज्यादा ! यही पाखंड व्यंग्य की उर्वर भूमि है—कहना कुछ, करना कुछ; बहिरंग कुछ, अन्तरंग कुछ। अनादिकाल से उसकी एक अखंड परंपरा हमारे यहां चली आ रही है। उसको देखते हुए हमारे प्राचीन साहित्य में व्यंग्य की वैसी पुष्ट परंपरा कदाचित् नहीं है—'मृच्छकटिकम्' में यज्ञोपवीत से सेंध की गहराई नापने वाला चोर संभवत उसका एक अन्यतम उदाहरण है। भारतेन्दु-युग के बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र जैसे सशक्त व्यंग्यकारों से आधुनिक हिन्दी साहित्य की व्यंग्य-परंपरा का सूत्रपात होता है।

२. व्यंग्य साहित्य की ही एक विधा है। उसका भी वही प्रयोजन है जो सब साहित्य का होता है—उतना ही 'पैसे के लिए, रोजी-रोटी के लिए, छपने की सुविधा के लिए' जितनी कि अन्य कोई रचना, कहानी, कविता या ललित लेख। लेकिन सबसे बड़ा और असली प्रयोजन तो आपने लिखा ही नहीं—लेखक की आत्म-अभिव्यक्ति, यहां झूठ का सामना होने पर, पाखंड भी जिसका ही एक रूप है।

३. नये कुछ लोग तो साहित्यकार और उसकी रचना को बिलकुल अलग करके देखते है, जैसे एक को दूसरे से कुछ लेना-देना न हो। पर मैं उन पुराने लोगों मे हूं जो यह मानते हैं कि वह साहित्य जो अपने सर्जक से सघन रूप में जुड़ा हुआ नहीं है वह साहित्य नहीं, छद्म साहित्य है, चरित्रहीन और अल्पायु। इसलिए साहित्य को अगर चरित्रवान् होना है तो साहित्यकार को भी चरित्रवान् होना है। हां, चरित्र की परिभाषा वह रूढ, संकीर्ण परिभाषा न होगी जिसके अन्तर्गत शराब न पीना और अपनी स्त्री छोड किसी और स्त्री के संग न सोना ही चरित्र का उच्चतम

शिखर होता है। सबसे पहले चरित्र का मतलब है पाखंड का तिरस्कार, व्यक्ति का अपने प्रति सुसगत होना, अर्थात् उसकी निश्छल सच्चाई।

४. मैं नही समझता, व्यंग्य-भाषा और साहित्य-भाषा मे क्यों कोई अंतर हो, जबकि व्यग्य साहित्य से अलग कोई चीज नही और जबकि साहित्य में यों ही, प्रसंगात्, बहुत से भाषागत उतार-चढाव की गुंजाइश हो। व्यंग्य का प्रधान उपजीव्य है वक्रोक्ति, जो व्यंजना का ही एक अंग है जिस साहित्य में व्यजना नही वह कितना ठस होगा ! मेरी मान्यता है कि कविता समेत सब सर्जनात्मक लेखन की भाषा बोलचाल के निकटतम होनी चाहिए। अभी जो मेड़ें हमने खडी कर रखी है उनसे हमारे साहित्य का बहुत भला हुआ हो ऐसा नही लगता।

५. व्यग्य ही क्यों, कविता और कहानी भी क्या 'नकली, फरमाइशी, फैशनेबुल' नही होती ? यह तो कोई बात नही। इस तरह के झूठे, बनावटी साहित्य की हम बात ही क्यो करें ?

६. हिन्दी व्यग्य के बारे में कहने को मेरे पास बहुत कुछ हो सकता था, लेकिन अभी बस दो बातें कहना चाहता हूं। एक तो यह कि व्यग्य-साहित्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का यह युग काफी समृद्ध रहा है, भारतेन्दु-युग के बाद अभी भी इतने व्यग्यकार एक साथ दिखायी पडते है, और दूसरे यह कि विचार-स्वातव्य और लेखन-स्वातत्र्य की सप्रति जो स्थिति है वह उसके बहुत अनुकूल नही है। राजनीतिक व्यग्य तो प्राय: समाप्त ही हो गया है। अन्य क्षेत्र अभी है पर यह जो व्यग्य का एक केन्द्रीय क्षेत्र सुरक्षित क्षेत्र बन गया है उसने व्यंग्यकारो के सपूर्ण व्यक्तित्व को कुठित किया है। व्यग्य का निवेदन जिस अर्थ में अनिवार्यत: सांप्रतिक होता है, अन्य किसी भी विधा से अधिक स्वतत्रता उसका अनिवार्य तत्त्व है।

७. मैं स्वयं प्रतिबद्ध लेखक हूं और अप्रतिबद्ध लेखको को भटका हुआ समझता हूं जिन्हे अभी यह समझना बाकी है कि वे कहा पर खड़े है और मुख्यत: सामाजिक न्याय-अन्याय के प्रश्नों पर उनकी सहानुभूति किधर है। लेकिन प्रतिबद्ध लेखक होते हुए मैं दलीय प्रतिबद्धता को लेखक के लिए शुभ नही मानता—मैं समझता हूं कि लेखक की पहली और अन्तिम प्रति-

बद्धता अपने विवेक के प्रति होती है और होनी चाहिए ।

८. हां ।

६. प्रश्न ही नही उठता । लेकिन एक बार फिर से अपने सवाल को पढकर देखिए, हिन्दुस्तान आपको कहा बैठा हुआ दिखायी पड़ता है ?

१०. 'हा' भी और 'नही' भी । 'हां' इस अर्थ मे कि सत्ता जब चाहे उसका गला घोट सकती है, जैसा कि हम देख भी रहे हैं, और 'नहीं' इस अर्थ मे कि सार्थक शब्द कभी वृथा नही जाता । इसीलिए अन्यायी सत्ता उससे डरती है । पर हा, तब समय की गणना किसी दूसरे ही पचाग मे होती है । उसकी समय की इकाई हमारे साधारण पंचाग से बहुत लबी होती है।

११. व्यग्य साहित्य की बहुत ही समर्थ और विशेष रूप से सामाजिक विधा है । दिशा-काल मे जहा तक झूठे आडंबर की, और पाखड की व्याप्ति है वहां तक व्यग्य का भी क्षेत्र है—अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल परिवेश का मिलना या न मिलना दूसरा ही प्रश्न है । जब अनुकूल परिवेश नही मिलता तब प्रतिकूल परिवेश में वह अपने लिए नये रास्ते खोज लेती है । इसलिए कि उसकी लड़ाई, सभी श्रेष्ठ साहित्य के समान और सबसे अधिक सांप्रतिक रूप मे, सत्य और न्याय की लड़ाई होती है जो कभी रुकती नही—यानी कि जब तक समाज मे कुछ भी प्राण शेष है ।

व्यंग्य की आवश्यकता

□ अजातशत्रु

'व्यंग्य क्यों' यह जानने के पहले अगर हम यह देख लें कि व्यंग्य मनुष्य के शाश्वत स्वभाव से जुड़ा हुआ है या बाहरी जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित एक सामयिक स्फुरण है, तो बेहतर होगा !

व्यंग्य मनुष्य के बाहर नहीं है, जैसे झाड, नदी, तारे वगैरह उसके बाहर हैं परंतु समय, स्थितियां या आलबन जरूर मनुष्य के बाहर हैं जिनकी भीतरी या बाहरी विसगति का अन्तर्दर्शन कर, मनुष्य की चेतना व्यंग्य करने को बाध्य होती है। व्यंग्य करने की यह चेतना मनुष्य में शाश्वत रही है, इसलिए शिल्प, शैली और भाषा के सामयिक आग्रहों को हटा दिया जाये तो भी व्यंग्य एक शाश्वत सचाई के रूप मे मानवीय प्रवृत्ति का स्वरूप बनकर प्रमाणित हो जाता है।

प्रश्न है व्यंग्य का जन्म एवं विकास कैसे हुआ होगा ?

उत्तर यह है कि इस ग्रह पर जीवन जीते-जीते मनुष्य को कुछ अनुभव हुए होंगे। उन अनुभवों से उसने कुछ सिद्धांत बनाये होंगे। इन सिद्धातों से उसके 'तर्क' करने की बुनियाद बनी होगी। इन तर्कों के आधार पर जब उसने किसी कर्म या आचरण-विशेष में, सर्वस्वीकृत आचार-संहिता से, च्युति देखी होगी, और वह च्युति प्रहारक न होकर, सहनीय रही होगी, तब शायद उसने प्रथम विसंगति के दर्शन किए होंगे। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि विसगति भी एक सापेक्ष शब्द है। एक नितांत भौगोलिक अवधारणा। एक बेहद मोटा आदमी किसी भी कॉलेज-गर्ल के लिए विसगति हो सकता है, चूंकि नार्मल ऊंचाई, नार्मल मोटाई जैसे माप अनजाने रूप से बन गये हैं, परंतु वही मोटा आदमी किसी दूसरी कॉलेज-गर्ल का बाप भी हो सकता है और तब उस उदाहरण मे वह मोटा आदमी हास्य का पात्र बिल्कुल नहीं हो सकता। इसी तरह, अगर हम हाथ जोड़कर अभिवादन करने के बजाय परस्पर नाक रगड़ें तो यह बेहद मनोरजक दृश्य

होगा, क्योंकि 'नार्मली' हम सब हाथ जोड़कर नमस्ते करते आये हैं लेकिन अफ्रीका के कुछ अविकसित विभागों में नाक रगड़कर ही अभिवादन करने की प्रथा है, और तब वहां का आदिवासी ऐसे प्रसंग पर 'खी-खी' करके हंसने के बजाय, बेहद गंभीर होता होगा। इसी तरह, नास्तिकों के देश में हमारा मंदिर में घंटी बजाना या इलाहाबाद में संगम पर डुबकी लेना, जहां भूमिगत गटरों से इलाहाबाद का पूरा कचरा बहकर आता है, उतना ही हास्यास्पद हो सकता है।

अर्थात् विसंगतियां भौगोलिक एवं संस्कृतिगत हो सकती हैं। पर कुछ विसंगतियां ऐसी भी होती हैं, जो सार्वभौमिक होती हैं, चूंकि कुछ गुण या दुर्गुण ऐसे भी होते हैं, जो मनुष्य के शाश्वत गुण-दुर्गुण होते हैं, और जो समान रूप से धरती के हर आदमी को, चाहे उसका देश, संस्कृति, परंपराएं, विचार-पद्धति कितने भी अलग हों, प्रभावित करते हैं।

ये विसंगतियां भी दो किस्म की होती हैं। स्थूल और सूक्ष्म।

स्थूल विसंगतियां वे होती हैं जो नग्न आंखों से दिख जाती हैं। जो इतनी सतही होती है कि सामान्य आदमी (लेमेन) भी उन्हें पकड़ सकता है जैसे मोटा हवलदार, लंबा प्रोफेसर, सरकस का बौना, सड़क के किनारे दवा बेचने वाले का अंगरखा, या झाड़ पर से लिंग बतलाता हुआ बंदर।

परंतु कुछ विसंगतियां सूक्ष्म या अमूर्त होती हैं। वे आंखों से नहीं दिखती। वे व्यंग्य की अंतश्चेतना से युक्त व्यक्ति को 'अनायास' दिख जाती हैं। जैसे, एक पुलिस स्टेशन पर 'सत्यमेव जयते' लिखा देखकर मुझे हंसी आ गयी थी, पर मेरे रिक्शेवाले को उसमें हास्य का कोई भी कारण नजर नहीं आया था।

परंतु ये विसंगतियां गहरी भी होती हैं। इतनी व्यापक कि ये संपूर्ण राज्य या संपूर्ण देश को घेर लेती हैं। तब ये केवल मनोरंजक नहीं रह जाती, बल्कि अपराध या अनाचार की सीमा तक पहुंच जाती हैं, जहां ये हंसने के बजाय, आदमी को रुलाती हैं। उसके अस्तित्व को 'श्रीट' करती है। उसके अधिकारों पर बलात्कार करती हैं। तब ये देखकर मजा लेने की चीज नहीं, लड़कर मिटा देने की चीज होती हैं। और यहीं से सामान्य आदमी की विसंगति और लेखक की विसंगति में फर्क आ जाता है। सामान्य

आदमी इस विसंगति को भोगता है और लेखक न केवल इन्हें भोगता है, बल्कि इनसे लड़ने के लिए भी आमादा होता है ताकि वह अपने तथा समाज के सुखद जीवन के लिए रास्ता साफ कर सके। तब जरूरी नहीं कि वह रायफल खरीदकर दिल्ली जाये और एक भ्रष्ट नेता को गोली मार दे, क्योंकि क्राति एक सहयोगपूर्ण व्यापक कर्म प्रक्रिया है, और क्रांति वे भी करते हैं जो तब खेतों में फसलें उगाते रहे है, जब समाज के कुछ अन्य लोग सीमा पर शत्रुओं से लड़ रहे होते हैं। अतः व्यग्य-लेखक के लिए इतना बहुत है कि वह अपने आसपास की विसगतियों को देखे। स्थानीय, राज्यीय या देशीय स्तर पर उनकी प्रभावशीलता पर विचार करे, और उस क्रम के हिसाब से, उसी तरह की जबरदस्त लड़ाई लडे।

यही पर इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि व्यग्य क्यों?

व्यग्य इसलिए कि आज जो विसगति हमारे परिवेश में है, वह रोचक नही है। उसे हसकर नही टाला जा सकता। वह केवल कुछ लोगों को नहीं सता रही है। बल्कि एक दूषित समाज व्यवस्था, भ्रष्ट शासन तन्त्र और धार्मिक अतिवादिता बनकर हम सबको एक शारीरिक एवं मानसिक जीवन के लिए पंगु बना रही है। इसने हम सबको एक नाव मे ला खड़ा किया है और यह नाव डूबती जा रही है। इसमे कुली भी राशन की लाइन में खड़ा है और प्रोफेसर भी। और प्रोफेसर यह सोचकर नही बच सकता कि कुली से मेरी तन्ख्वाह या सामाजिक स्थिति ज्यादा अच्छी है, क्योंकि केरोसिन न मिलने पर जो असुविधा कुली को होती है, वह प्रोफेसर की असुविधा से बडी या छोटी, या कुलीन या निम्न नही है। दु:ख तो एक डेमोक्रेटिक सेन्टीमेंट है।

आज विसगतिया जीवन के लिए निर्णायक दु:स्थितियां बन गयी हैं। इनसे लड़ना आज नियति बन गया है, और अपने-अपने स्तर पर, अपने-अपने ढंग से, अपने-अपने अस्त्र से हर आदमी इनसे लड़ रहा है। इस लड़ाई की सचाई इस बात पर निर्भर है कि आपके पास जो भी अस्त्र है, आप उससे कितनी प्रहारकता के साथ लड रहे हैं। एक लड़ना तो यह भी है कि मिनिस्टर को गोली मार दी जाये या उस पर गाली भरी व्यंग्य कविता लिख दी जाये, परन्तु सवाल यह है कि एक आदमी के एक मिनिस्टर

को मार देने या एक मचीय कवि के व्यंग्य कविता लिख देने से क्या होगा, जब तक हम पूरे सुसगठित भ्रष्ट तन्त्र के खिलाफ पूरी जनता मे विद्रोह का वातावरण नही बनाते। जो संगठित बुराई है, वह तो सगठित विद्रोह से ही उखड़ेगी। इसलिए आज व्यग्यकार के सामने व्यंग्य लिखने से भी बड़ा प्रश्न यह है कि वह 'वातावरण' कैसे बनाये। इसके लिए उसे उन लोगों की भाषा, इडीयम, मनोविज्ञान एवं बौद्धिक स्तर को जानना होगा, जिन्हें जानकर वह सगठित करना चाहता है। और चूंकि हर युग मे 'समूह' क्रांति में शारीरिक हिस्सा लेता है, इसीलिए व्यग्यकार को आज समूह की भाषा मे, समूह के स्तर का साहित्य लिखना होगा। यहा यह बात उठाना सरासर बदमाशी होगी कि क्या हम गुलशन नदा बन जाएं? नही, बगैर गुलशन नदा बने भी, समूह का साहित्य लिखा गया है, जैसे प्रेमचद, यशपाल, परसाई, श्रीलाल शुक्ल आदि की कृतियां और पुरानो में कबीर तथा तुलसी। दिक्कत यह है कि 'समूह' के नाम पर हमारा बौद्धिक साहित्यकार 'निरक्षर या अल्प-अक्षर' आदमी का अर्थ लेता है, जबकि समूह के साहित्य का मतलब है, उन सार्वभौमिक गुणों का साहित्य, जो आज भी सड़क के आदमी और यूनिवर्सिटी के आदमी मे समान रूप से विद्यमान है। सरलता, सहजता, भाषा की सजीवता, और जीवन मे सम्पृक्ति—ये ऐसी बातें हैं जो यूनिवर्सिटी के प्रोफेसरों को भी पसंद आती हैं और गांव के हलकू को भी! अतः व्यंग्यकार को फिर से इन्हीं शाश्वत मनोवैज्ञानिक गुणधर्मों पर ध्यान देना होगा, और आज के सिद्धांतपरक, यांत्रिक साहित्य से लौटकर, जिसमें 'आम आदमी' को बौद्धिकीकृत करके उछाला गया है, उन्ही गुणधर्मों का साहित्य लिखना होगा, जो कबीर, तुलसी, प्रेमचद, यशपाल, परसाई, बच्चन, भवानी प्रसाद मिश्र आदि को समूह का बनाते हुए भी समूह के ऊपर का बनाता है।

पर इसमे भी बड़ा चेलेंज यह है कि अगर भाषा और निर्वाह को सरल बना लिया जाये तो क्या इससे हमारा अभीष्ट पूरा हो जायेगा? जी नहीं, भाषा तो विचार के लिए होती है, और विचार मे भी जो चीज आदमी को हिलाती है, वह है उस विचार का सत्य, जो अकाट्य तार्किक ढंग

से रखा जाता है। जैसे, अगर यह कहा जाये कि हे आदमी, तू पत्थर की पूजा मत कर। तो यह वाक्य शायद उतना विचलित नहीं करता, परंतु जब कबीर ने कहा कि अगर पत्थर की पूजा से भला होता है, तो मैं चक्की की पूजा करूंगा, जिससे 'पीस खाये संसार', तो यह तर्क सीधा दिमाग पर दस्तक देता है। दस्तक देता है यानी सोचने को विवश करता है। इसलिए आज जब व्यंग्यकार विसंगतियों पर व्यग्य लिखता है तो उसे केवल उनका रोचक वर्णन भर करना नहीं है, उनकी उस आंतरिक प्रक्रिया के विज्ञान को छील-छीलकर सामने रखना है, जिसे सामान्य आदमी नहीं जानता। अगर इस वैज्ञानिक भ्रष्टाचार के अन्तःसूत्रों को व्यंग्य-कार उनकी पेंचीदगी के साथ, स्पष्ट करता है तो इससे पाठक अवश्य विचलित होता है। वह उस लाइन पर सोचना शुरू करता है। जैसे अगर यह माना जाये कि सुकर नारायण बाखिया ने करोड़ों रुपये कमाये, यह बहुत बड़ी विसंगति है, तो इस पर व्यग्य लिखते समय सबसे महत्त्वपूर्ण बात उस आतरिक प्रक्रिया की पोल भी खोलना है, जिसके सधे हुए विज्ञान से सुकर नारायण बाखिया, नेता अफसर और चुनाव फंड के बीच से गुजरता हुआ, एक अरबपति बनता है। अर्थात् व्यंग्यकार को बतलाना होगा कि एक स्पष्ट विसगति कितने अस्पष्ट सूत्रों से जुड़ी हुई है, और जब तक इन सहयोगी मुद्दों पर कुठाराघात नहीं किया जाता, तब तक परिवर्तन की भूमिका मुश्किल है। मेरा ख्याल है जब जनता भीतर से जानने-समझने लगती है, तब आक्रोश तेजी से उभरता है। एक विचारक ने कहा था—Convince the people and see them go off.

पर व्यंग्य के लिए आज सबसे बड़ा दूसरा चेलेंज है! वह यह कि उसे जन-जन तक कैसे पहुंचाया जाये? जब सरकार अपने प्रचार के माध्यम से—जैसे रेडियो, सरकारी पत्रिकाएं, फिल्म्स-डिवीजन की डाक्यूमेंट्रियां, पुरस्कार आदि बड़ी-बड़ी क्रांतियों में जनमत बनने से रोक देती है, तब इतने ही सशक्त प्रचार माध्यम के अभाव में व्यंग्यकार अपनी बात जनता तक कैसे पहुंचा सकता है? या, अगर यह कहा जाय कि प्रोपेगेण्डा से कुछ नहीं होता, तो ब्रिटिश सरकार ने वीर सावरकर की पुस्तकें क्यों जब्त

की थी, या बर्टेण्ड रसेल को क्यों जेल में डाला गया था ? उसका मतलब है कि विचार और उनका प्रचार भविष्य को एक निश्चित रूप देते हैं, और इस भविष्य से सरकारें डरती हैं, चूंकि वैसा भविष्य उसके सदस्यों के खिलाफ होता है।

अत: मेरा ख्याल है कि जब लेखन को हथियार बनाना है तो लेखन से इतर आग्रहों पर भी ध्यान देना होगा और उनमें प्रचार या प्रोपेगेण्डा का मुद्दा बहुत महत्त्वपूर्ण है !

अब सवाल है, प्रचार के लिए क्या किया जाये ?

- बडी पत्रिकाओं से प्रचार होता है, पर उनकी नीति सरकार विरोधी नही हो सकती। या है भी तो इतनी ठडी कि उस नीति के अंतर्गत छपे साहित्य का, जनता पर विशेष प्रभाव नही पड़ सकता।
- छोटी पत्रिकाए हैं, जो बड़ी पत्रिकाओं का विकल्प हैं, और जो काफी बेबाक् है। लेकिन इस अच्छे विकल्प की सीमा यह है कि यह अल्पजीवी होता है और इसका प्रचार-प्रसार भी व्यापक नहीं होता।
- मेरे ख्याल से एक तरीका है। सभी लघु पत्रिकाए एक मंच पर आ जायें और राष्ट्रीय स्तर पर एक नीति तय कर लें। इस नीति के अंतर्गत सिर्फ आज के सदर्भ का साहित्य लिखा जाये, और हर लघु-पत्रिका उस विशेष लेख या विशेष व्यग्य को छापे, जो किसी लघु-पत्रिका मे छपा है। होता यह है कि जो लेख बिहार की पत्रिका मे छपता है, वह कितने ही राष्ट्रीय स्तर का हो, दिल्ली की पत्रिका में छपने से वचित रह जाता है। इससे उस लेख की 'सर्विस' भौगोलिक बनकर रह जाती है।
- हम यह भी तय कर लें कि सिद्धांतो पर लिखा नया साहित्य व्यापक नही हो सकता, जैसे नयी कविता या आम आदमी की कहानी बौद्धिक होकर रह गयी। पर साहित्य मे प्रतिबद्धता से यही आशय हो सकता है कि सरलता, सहजता, प्रामाणिकता और जन-भाषा का साहित्य लिखा जाये।
- जो लोग 'आम आदमी' से नाक-भौ सिकोड़ते हैं, उन्हें उसके बारे

में यह जान लेना आवश्यक है कि जब हम तीन साल के लड़के को वर्णमाला सिखा सकते हैं और बाद मे उसे दार्शनिक या वैज्ञानिक बना सकते हैं तो हम इस 'आम आदमी' को भी दीक्षित-सस्कृत कर सकते हैं, बशर्ते कि हम मंच की व्यावसायिक कविता न लिखकर, माणिक वर्मा, दिनकर सोनवलकर या भवानी भाई की सहज-सुबोध कविताएं लिखें।

दुर्भाग्य से इन प्रश्नों को टाल दिया गया है। हमने शायद तय कर लिया है कि लिखने के अहं में हमारा काम युग को देखना नही रहा है। अगर एक वाद चलता है, तो हम उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं, भले ही वह अमेरिका से आया हो या फ्रांस से, या देश की ही किसी बड़ी पत्रिका से जो स्वयं उन वादों से प्रभावित है। आखिर क्या बात है कि प्रेमचंद के बाद जो भी साहित्य आया है, वह अधिकांशतः, अपनी ईमानदारी और सिद्धातपरकता के बाद भी, फैल ही गया है? क्या प्रेमचद के समय के लोग अपनी साहित्य सवेदना मे पिछड़े हुए थे? या, आज लेखक उस संवेदना में आगे आ गये हैं? या, अगर यह भी मान लिया जाये कि आज का युग यात्रिक, जटिल, और तर्कपसद हो गया है, जिससे भावना का नाम त्याज्य भावुकता हो गया है, तो सवाल है तब भी लोग आज कबीर या परसाई को क्यों पसद करते हैं? इस यांत्रिकता के युग में भी 'अलग-अलग वैतरणी' या 'राग दरबारी' क्यो अच्छे लगते हैं? इसका शायद एक कारण यह भी है कि इन रचनाओं के लेखक अपनी भूमि से जुड़े हुए है।

मैं समझता हूं व्यग्य का भविष्य काफी उज्ज्वल है। वह विधा के रूप में अब ही उभरकर सामने आया है। अगर हम सभी व्यग्यकार अपनी लेखकीय ईमानदारी से, विश्व के श्रेष्ठ व्यंग्य-साहित्य का अध्ययन करते हुए, और उससे दृष्टि प्राप्त करके, अपनी स्वतत्र व्यग्य-दृष्टि बनाते हुए, व्यग्य-लेखन करते है और उस व्यंग्य-लेखन को रचनात्मक निर्वाह के साथ, आज के प्रश्नों से जोड़ते हैं तो निश्चय ही यह निरर्थक नही जायेगा। शायद भारतीय इतिहास में यह पहला मौका है जब हमारा देश वेदांत दर्शन, जीवन की नश्वरता के विचार और परमात्मा तथा आत्मा के ऊंचे

प्रश्नों से टूटकर जमीन के प्रश्नों से जुड़ा है और यह महसूस कर सका है कि जमीन की हालातों को सुधारे बिना आध्यात्मिक दुनिया का स्वप्न बेकार है, भले ही वह स्वप्न भौतिक संपन्नता के बाद कितना महत्त्वपूर्ण हो ! यानी, अब लोग भी मानने लगे हैं कि व्यंग्य पीड़ा में से उपजता है, और वह सिर्फ फन के लिए नहीं लिखा जाता।

व्यंग्य की भूमिका

□ दिनकर सोनवलकर

जब तक असंगति और विषमताए है, अन्याय और शोषण है, कथनी और करनी का फर्क है, तब तक व्यंग्य लिखे जाते रहेंगे। व्यंग्य एक अस्त्र है जो भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करता है; यानी एक आईना जो लोगों की असली शक्ल दिखाता है। व्यग्य लिखना दरअसल कड़वा सच कहने की जोखिम उठाना है। और इसलिए हिन्दी व्यग्य की ऐतिहासिक भूमिका स्पष्ट है। कबीर, भारतेन्दु, निराला, नागार्जुन, परसाई हिन्दी-व्यंग्य की ऐसी उपलब्धियां हैं जिन्होंने साहित्य को नयी दिशा और नये विषय दिए। प्राचीन आचार्यों ने जिसे 'ध्वनि' और 'व्यंग्यार्थ' कहकर विश्लेषित किया, श्रेष्ठ व्यग्य का वही आधार है। भाषा और शैली के जितने विविध प्रयोग व्यंग्यकारों ने किए हैं वह उनकी रचनात्मक क्षमता का प्रमाण है।

व्यग्य ही क्यों समस्त लेखन की बुनियादी शर्त है : "गहरी अन्तर्दृष्टि और निर्भीक अभिव्यक्ति।" अभिव्यक्ति ही प्रधान, प्राथमिक है। शेष सभी बातें गौण, सेकेन्डरी हैं। पैसा, रोजी-रोटी, प्रकाशन और स्वीकृति। फिर ये कतई जरूरी नही कि हर व्यंग्यकार को पैसा, रोजी-रोटी मिल ही जाए, बल्कि रोजी-रोटी छिनने की संभावनाएं ही ज्यादा है, अगर व्यंग्यकार सतत् जागरूक है। स्वीकृति तो व्यग्य को अभी-अभी मिलनी शुरू हुई है, पिछले १०-१५ वर्षों में। और चूंकि अब व्यग्य सबसे सशक्त और लोकप्रिय विधा बन गयी है इसलिए कई नकलची लेखक 'व्यग्यकारों' मे नाम लिखाने की असफल कोशिश कर रहे हैं—बड़े लेखकों को गाली देकर या ब्लेड से उंगली काटकर 'शहीद' बनकर। लेकिन फैशन तो कपड़ों में भी अधिक दिन नहीं चलती, लेखन में क्या चलेगी ?

व्यग्य के चरित्र का सूत्र तो एक ही है—"जो घर फूंके आपनो, सो चले हमारे साथ" और इसके लिए जरूरी है कि व्यंग्यकार का चरित्र भी

वैसा ही ईमानदार, बुलन्द, निडर और अपरिग्रही हो। उसे एक सक्रिय सन्त होना चाहिए—"बनाकर फकीरों का हम भेष गालिब, तमाशाए-अहले-करम देखते हैं"—उसकी प्रतिबद्धता सिर्फ मनुष्य के प्रति, मनुष्य के लिए ही होती है।

'सबसे ज्यादा व्यंग्य आज किस पर किया जाए?' ये तो अपनी-अपनी समझदारी और रुचि की बात है। इसकी कोई 'डायरेक्टरी' नहीं बनाई जा सकती।

व्यंग्य के हजार ढंग और बेशुमार रंग होते हैं और व्यंग्य के विषय तथा पात्र तो एक ढूंढो हजार मिलते हैं। व्यंग्य लेखक पर व्यंग्य वही करेगा जिसे न व्यंग्य की समझ है और न लेखन की पीड़ा का अनुभव। सबसे ज्यादा व्यंग्य हिन्दी पाठक की निष्क्रियता, हिन्दी समीक्षक की धूर्तता और नये लेखक की स्नॉबरी पर किया जाना चाहिए।

व्यंग्य की भाषा और साहित्य की भाषा को अलग-अलग रखने की माग ही एक गलत प्रस्ताव है, एकेडेमिक अज्ञान से उत्पन्न। व्यंग्य संविधान मे उल्लिखित कोई अनुसूचित जाति या पिछड़ा हुआ वर्ग नहीं है कि उसे अलग भाषा देकर 'दयनीय' बनाया जाए। व्यंग्य तो भाषा की हर चुनौती स्वीकार करने मे सक्षम है। सफेदपोश, कलावादी, शिल्पाग्रही लेखक को भले ही व्यंग्य से खतरा हो मगर व्यंग्यकार की अभिव्यक्ति-क्षमता का दायरा बहुत व्यापक है, विशुद्ध साहित्यिक भाषा-प्रयोगों से *लोकभाषा, जनभाषा तक यानी आम आदमी की भाषा जिसमें अंग्रेजी* शब्द भी चलेंगे। यह तो व्यंग्यकार की अपनी क्षमता पर निर्भर है कि वह भाषा का इस्तेमाल किस प्रकार करता है? व्यंग्य ही क्यों, किसी भी विधा को विशिष्ट भाषा तक सीमित करने की कोशिश उसे मार डालने का एक षड्यन्त्र है—

हिन्दी व्यंग्य तेजी से विकसित हो रहा है। वह युवा होकर प्रौढता की देहरी छू रहा है। हिन्दी मे उसके नही आने का सवाल ही अप्रासंगिक है। एक बुरी खबर की तरह वह फैल चुका है और साहित्य क्षेत्र की परम्परा-वादी ब्राह्मणशाही को उसने ध्वस्त कर दिया है। स्वतंत्रता के बाद तो

हिन्दी व्यग्य के क्षेत्र मे ही सबसे ज्यादा काम हुआ है। अच्छे लेखको की पूरी टीम गद्य और कविता के क्षेत्र में गोलन्दाजी कर रही है। कई पुराने खिलाड़ी उनके सामने क्लीन बोल्ट हो चुके है और कुण्ठाग्रस्त होकर व्यग्य के नये पिच को ही दोषपूर्ण साबित कर रहे हैं। आज का हिन्दी व्यंग्य किसी भी भारतीय भाषा के व्यग्य से टक्कर ले सकता है। अलग-अलग स्तरों पर खूब विविध और बढ़िया लिखा जा रहा है। व्यग्य ने हिन्दी की सबसे बडी सेवा तो यह की है कि उसने पाठको का एक वर्ग तैयार किया है जो व्यंग्य के बारीक इशारो को समझता है और व्यग्य के लक्ष्य तक पहुचता है। दयनीय है वे लेखक जो पाठकों की अक्षमता की आड़ मे अपने लेखन की दरिद्रता को छिपाना चाहते है।

नकली व्यग्य, फरमायशी व्यग्य, फँसनेबिल व्यग्य हिन्दी मे ही नहीं, सभी भाषाओं में प्राप्त है (मराठी का तो ध्यान मुझे है ही)। व्यंग्य ही को बदनाम क्यों करते है ? नकली कविता, फरमायशी गीत, फँसनेबिल युवा-कविता भी तो धड़ल्ले से चल रही है। ये तो विराट मेला है, सबके अपने-अपने तम्बू और तमाशे हैं। किसके तमाशे मे कितना दमखम है, यह तो समय ही बताएगा ?

जहा निर्णायकों ने स्वयं रगीन चश्मे पहन रखे हों, समीक्षक दलबन्दी के दलदल में गले तक डूबे हों, विश्वविद्यालय पी-एच०डी० तैयार करने के मक्खन उद्योग बन गए हों, पुराने प्रतिमान नष्ट हो गये हों, नये प्रतिमानों पर कुछ प्राइवेट सस्थानों का कब्जा हो—वहा असली-नकली का भेद कौन करे ? यहा तो हर एक खुद को असली और बाकी सभी को नकली साबित करने पर आमादा है। बस, थोड़ा और ठहर जाइए, कयामत का दिन दूर नहीं है। सबके नकाब उलट दिए जायेंगे ?

जब तक मनुष्य होने का एहसास बाकी है, जब तक ईमानदारी और न्याय के लिए लड़ने की कचोट उठती है, जब तक हम पूरी तरह मुर्दा नही हो गए हैं, व्यंग्य लिखे जाते रहेंगे।

नेतृत्व भ्रष्ट है, न्याय अन्धा है, छात्र दिशाहीन है, शिक्षा खोखली है। अफसर रिश्वतखोर है, समाज दकियानूस है, बुद्धिजीवी कमरों में बन्द

है साहित्य जन-जीवन से कटा हुआ है—तथाकथित विद्रोही सुविधाएं भोगते हुए विदेशी किताबों के उद्धरण दोहरा रहे हैं, पुरानी पीढ़ी अविश्वास से और नयी परस्पर ईर्ष्या द्वेष से ग्रस्त है—ऐसे में व्यंग्य ही एकमात्र विकल्प है। व्यंग्यकार ही रामझरोखे बैठकर सबका ठीक हिसाब-किताब रख सकता है।

व्यंग्य : एक साहित्यिक क्रान्ति

□ डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद

प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है जो निरन्तर बदलती रहती है। मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार संस्कृति मे परिवर्तन या तो विचार क्रांति से होता है या फिर औजार-क्रांति से। एक नया सिद्धान्त या वैज्ञानिक आविष्कार संस्कृति में बदलाव लाने की कोशिश करता है। सामाजिक व्यवस्था बदलती है और उसी हिसाब से व्यक्ति की भूमिका में तब्दीली आती है।

किसी एक समय-बिन्दु पर अगर हम समाज का अध्ययन करें तो दो परस्पर विरोधी शक्तियां काम करती हुई नजर आती हैं—एक शक्ति सामाजिक नियंत्रण की होती है और दूसरी सामाजिक परिवर्तन की। नियंत्रण की शक्ति समाज में जस-तस की स्थिति यानी सामाजिक उपलब्धियों को अक्षुण्ण बनाये रखने की कोशिश करती है, परम्परा-पोषक बनती है, अपनी संस्कृति को सबसे अच्छी संस्कृति मानकर उसमे किसी भी प्रकार का बदलाव न हो, उसे एक मिथक स्तर पर ले जाकर पूज्य बना देती है। दूसरी शक्ति इस बात को मानकर चलती है कि यथास्थिति की संस्कृति से काम नही चल सकता, उसमे परिवर्तन लाना अनिवार्य है। यह शक्ति सामाजिक विसंगतियों की समीक्षा करती है और संस्कृति को किसी नये सिद्धान्त या यंत्र या दोनों द्वारा बदलने की कोशिश करती है।

इसी तरह का बंटवारा हम सामाजिक मूल्यों और वैयक्तिक हितों मे भी कर सकते हैं। मूल्य और हित दोनो मिलकर सामाजिक वातावरण का निर्माण करते है। मूल्यों और हितों के संबंध में परिवर्तन या अपरिवर्तन से दो स्पष्ट खेमे बन जाते है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि हितो में परिवर्तन तो हो लेकिन मूल्यों मे नही या मूल्यो मे तो परिवर्तन हो किन्तु हितों मे नही।

व्यंग्य परिवर्तन की अपेक्षा करता है। यह सामाजिक साचे पर प्रहार

करता है। यथास्थिति से जो ऊब या तनाव पैदा होता है उससे अलग हटकर कोई दिशा बने यह इसका सकेत करता है। यह किसी समाज के सामूहिक अवचेतन से जुडा रहता है और आस-पास की जिन्दगी और सस्कृति की आलोचना प्रस्तुत करता है।

व्यंग्य के पीछे जो धारणा काम करती है वह सार्वजनिक और सार्वकालिक होती है फिर भी व्यग्य के कथ्य और शैलियां विभिन्न संस्कृतियों में अलग-अलग हुआ करती है। ओद्योगिक समाज के व्यंग्य और कृपि प्रधान समाज के व्यग्य मे काफी अंतर होता है। पहले में वाग्मिता (Wit) और दूसरे मे हास्य (Humour) की प्रधानता होती है।

व्यग्य अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर एक महान् कलाकृति बन जाता है। उदाहरण के लिए पिकासो का मशहूर चित्र गुएर्निका को लीजिए। यह विशाल चित्र युद्धरत यूरोप का सबसे बडा व्यंग्य चित्र है। यह नाजीवाद और फासिस्टवाद पर करारा व्यंग्य है। फ्रांस के पतन के बाद जब जर्मन सिपाहियों ने इसे देखा तो वे तिलमिला उठे। कहा जाता है कि उन्होंने पिकासो से सवाल किया कि क्या उसने यह तस्वीर बनाई है। पिकासो का सिपाहियो को सीधा जवाब था—"मैंने नहीं, तुमने यह तस्वीर बनाई है।" यह दुहरा प्रहार था।

व्यग्य अन्याय या शोपण से जुडी हुई वास्तविकता को विकृत (distort) करता है और इस तरह यह सन्देश देता है कि जो है वह सही नही है। और अगर सामाजिक क्रिया नही की गई तो उसका परिणाम क्या निकलेगा। यह तनाव से मुक्ति पाने का भी एक ताकतवर माध्यम है।

जैसे-जैसे सस्कृति बदलती जाती है वैसे-वैसे व्यंग्य की विपय-वस्तुएं भी बदलती हैं। अपने ही देश में कोई तीस चालीस साल पहले देशी नरेश, खिताबयाफ्ता खानबहादुर और रायबहादुर या पश्चिमी सभ्यता की नकल करने वाले लोगों पर व्यंग्य किये जाते थे। आज ये व्यंग्य के पात्र नही के बराबर हैं। उनकी जगह आज सत्ताधारियों, नेताओं और तथाकथित बुद्धिजीवियों ने ले ली है।

बाइबिल के दस आदेशों मे से किसी एक का पालन शायद ही कभी कोई करता हो। पर उस विपय को लेकर अनगिनत व्यंग्य किये गये हैं और

सम्भव है आगे भी किये जाते रहेंगे। पेशाओं, सामाजिक जन रीतियों, वाक् या कार्य स्वतंत्रता की रुकावटों और प्रमुख आर्थिक और सामाजिक प्रथाओं की विसंगतियों पर आज के युग में अनेकानेक व्यंग्य लिखे जा रहे हैं।

व्यंग्यकार एक तरह से सामाजिक विधायक होता है। वह कभी-कभी क्रांति की अगली पंक्ति का सिपाही (vanguard of revolution) भी बन जाता है। इस तरह परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार करने की जिम्मेदारी भी वह अपने आप ले लेता है।

भावाभिव्यक्ति का माध्यम : व्यंग्य

□ डॉ० महेन्द्र भटनागर

व्यंग्य शब्द-शक्ति का एक अग है; जो किसी व्यक्ति, समाज, वस्तु या स्थिति की विरूपता प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। मनुष्य, भापा के माध्यम से विरूपता-सम्बन्धी अपने भावो और विचारो को अभिव्यक्त करता है। पर कभी-कभी स्वयं वाचक को यह अभिव्यक्ति, अभिप्रेत अर्थ में, पूर्ण अभिव्यक्ति अनुभूत नही हो पाती। वह अपने मन्तव्य के प्रकटीकरण से संतुष्ट नही हो पाता। वक्ता को रह-रह कर यही अहसास होता रहता है कि उसने विरूपता का उद्घाटन तो किया, पर उतने प्रभावी ढंग से नही जैसा कि उसका मानसिक प्रत्यय, अभिव्यक्ति के पूर्व मस्तिष्क मे बना था। ऐसी स्थिति मे मात्र भापा—समर्थ भापा—से ही काम नही चलता। वहां कथन की एक नयी प्रणाली अपनानी पड़ती है। कथन की यह भगिमा ही व्यंग्य है। व्यंग्य के द्वारा जब हमारी विशिष्ट भावना व विचारणा सटीक व वांछित आकार ग्रहण कर लेती है, तभी हमें तोप का अनुभव होता है। अभिव्यक्ति की हमारी बेचैनी का शमन भी तभी हो पाता है। अतः व्यग्य विशिष्ट स्थितियों मे, सार्थक अभिव्यक्ति के लिए एक आवश्यक उपादान है। व्यंग्य का सहारा लेकर हम, उन विशिष्ट स्थितियो मे, गूढातिगूढ़ भावो और विचारों की अभिव्यंजना करते हैं। व्यंग्य भापा को अनेक अभिनव अर्थों से विभूपित करता है। जीवन-जगत् विरूपताओ की पूर्ण अभिव्यक्ति के निमित्त ही मानव ने व्यग्य का आविष्कार किया होगा। तदुपरान्त, उपयोगिता के फलस्वरूप, अभिव्यंजना के साधनों मे व्यग्य का स्थान बना। व्यावहारिक उपयोगिता के कारण उसका उत्तरोत्तर प्रचलन बढना भी स्वाभाविक था। भापा में पाये जाने वाले अनेक व्यंग्य-प्रधान मुहावरों के जन्म का यही रहस्य है।

जहां तक वक्ता का पक्ष है, व्यंग्य की अनिवार्यता और उपयोगिता तो स्पष्ट है, पर श्रोता व्यंग्य को सुनना कभी नही चाहता। कभी-

कभी तो व्यंग्योक्तियों से वह तिलमिला उठता है। एक समझदार श्रोता से सहनशीलता की मांग करना मनोवैज्ञानिक नही। श्रोता सदैव साधु भी नहीं होते, जो व्यंग्य से अप्रभावित रहें।[1] अतः व्यंग्य-प्रधान भाषा बोलने वाला व्यक्ति किसी को प्रिय नही होता। हम दूसरो पर व्यंग्य कसना तो पसद करते है तथा तटस्थ भाव से दूसरो पर लक्षित व्यंग्य को सुनते और हर्षित होते हैं, पर अपने पर व्यंग्य-वचन सुनना हमें कभी गवारा नही होता। व्यंग्य-वचन को इसीलिए व्यंग्य-बाण कहा गया है। व्यंग्य-वचन सुनकर श्रोता उत्तेजित हो उठता है। अतः इस कारण, व्यंग्य को भर्त्सना भी झेलनी पड़ती है। समय-समय पर, साहित्य मे, व्यंग्य का जो अवमूल्यन हुआ है; उसका एक कारण यह भी है।

व्यंग्य अधिकतर कटु ही होता है। मधुरता से उसका कोई सरोकार नही। 'प्रिय वद' में उसका विश्वास नहीं। शर्करावेष्टित कुनैन के रूप मे वह ग्राह्य अवश्य हो जाता है; पर उसकी कड़वाहट तो अक्षुण्ण ही रहती है। मौलिक रूप में तो वह कड़वा ही है।

व्यंग्य को ग्राह्य बनाने के लिए ही एक ओर तो उसका लट्ठमारपन दूर किया गया, उसमें से अशिष्टता व फूहड़ता को निकाल दिया गया तथा दूसरी ओर उसे हास्य से सम्पृक्त कर दिया गया। हास्य-व्यंग्य की जोड़ी चिरकाल से चली आ रही है। हास्य के समावेश से व्यंग्य की अचूकता मे वृद्धि होती है। कोरा हास्य जहां मात्र हंसी-ठट्ठा है; वहा हास्य-मिश्रित व्यंग्य कोई निश्चित बौद्धिक पृष्ठभूमि रखता है। हास्य केवल मनोरजन के लिए है; जब कि हास्य-मिश्रित व्यंग्य मनुष्य के सुधार व परिष्कार के लिए। वर्तमान बौद्धिक युग मे भी मनुष्य की मनोवृत्ति नही बदली है और वह आज भी कोरा व्यंग्य ग्रहण करने मे समर्थ नही है।

व्यंग्य सामाजिक आपस में करते हैं पर व्यंग्य-लेखक का अपना विशिष्ट क्षेत्र होता है। वह साहित्य की परिधि में आता है। व्यंग्य-लेखक

१. बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन संत सह जैसे॥

(श्रीरामचरित मानस : किष्किन्धा-काण्ड)

अथवा व्यंग्य-कवि साहित्यिक रचनाओं-कृतियो के माध्यम से अपने को प्रस्तुत करता है। उसके अपने जैसे संस्कार होते हैं; वैसा ही उसका व्यंग्य होता है। उथला हो, गहरा हो; फूहड़ हो, शालीन हो; अश्लील हो, श्लील हो, बौद्धिक दृष्टि से विकसित व्यंग्य-लेखक हास्य का तिरस्कार करेगा। वह अधिकाधिक पैने और चुभने वाले व्यंग्य का प्रश्रय लेगा। उसके लेखन में गम्भीरता होगी। उसका स्वरूप आक्रामक होगा। वह अपनी बात बेलौस कहेगा—विना किसी लीपापोती के। अत व्यंग्य-कृतियों का स्वरूप व्यंग्य-लेखक के मानसिक गठन पर बहुत कुछ निर्भर है। वह विषय पर आश्रित न होकर विषयी पर आश्रित है। अनेक व्यंग्यकार अपने लेखन मे इतना गम्भीर होना नही चाहते। वे हास्य के छींटे भी उड़ाते चलते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यंग्यकारों के ये दो रूप क्यों ?[१] वस्तुतः घृणा व कटुता वहां होती है जहां कोई भुक्तभोगी होता है। ऐसे लेखक जो वास्तविक जीवन मे व्यक्ति और समाज की विरूपताओं के शिकार हुए हैं; उन्हे पैना व्यंग्य करने मे ही कलात्मक संतुष्टि का बोध होता है। अन्य लेखक व्यंग्य को साधन के रूप में ग्रहण करते हैं। वे समाज-सुधार की भावना मे प्रेरित होते हैं। उनकी व्यंग्य-अभिव्यक्ति उनकी अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा सामाजिक अनुभवों पर आधारित होती है। हास्य-लेखकों के बारे में तो ऐसा कहा जाता है कि यद्यपि उनका निजी जीवन अत्यधिक अभाव-ग्रस्त और कष्टमय होता है, पर फिर भी वे दूसरों को—समाज को—हसाते है; उसे स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। अपनी वेदना को दबाकर समाज को हसाना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। जनसाधारण एक हास्य-लेखक के संबध मे ऐसी धारणा बना सकता है कि चूकि वह हास्य-लेखक है अत. अपने दैनिक-जीवन में भी बड़ा विनोदी और सुखी होगा; जबकि प्रायः स्थिति इसके विपरीत होती है। अभावों की अधिकता तथा कष्टों का अतिरेक कभी-कभी हमे हास्य-प्रधान बना देता है। मानो हम दार्शनिक

---

१. "Satirists are either reformers are men with a grievance" — The Study of Poetry: By A.R. Entwistle. P.70.

की मुद्रा में जीवन के सारे कष्टों को हंसते हुए झेलते चलते है। पर व्यंग्य-लेखक के साथ ऐसी बात नहीं। वहां तो उसका आक्रोश मुखर होता है। वर्तमान युग में कटु व्यंग्य के प्रचलन का कारण यही है। अनेक लेखक और पाठक आज जीवन की असंगतियों और विरूपताओं को जब भोग रहे है तब उनकी झुंझलाहट, क्रोध, घृणा और क्रूरता व्यग्य का शरीर धारण कर अवतरित हो तो वह स्वाभाविक ही है। व्यग्य ऐसे लेखकों के जीवन का एक अंग होता है। वह आरोपित अथवा सप्रयास नही होता। आज जबकि जीवन में विकृतिया बढ़ती जा रही हैं; व्यंग्य—विशुद्ध व्यग्य—एक लोक-प्रिय साहित्य के रूप में मान्यता प्राप्त कर रहा है। हास्य से उसका रिश्ता टूट रहा है। बदजबानी बढ रही है—अलकृत शैली का लोप हो रहा है।[1]

व्यंग्य की निकृष्टता नहीं दिखाई देती है; जहा वह व्यक्तिगत आक्षेपो पर उतर आता है। व्यक्तिगत विरोध के लिए जब कोई लेखक व्यंग्य का सहारा लेता है अथवा अपनी द्वेष-भावना-तोष के लिए व्यग्य कसता है तो वह साहित्य के ऊचे धरातल से गिर जाता है। व्यक्ति, धर्म, सम्प्रदाय आदि को लक्ष्य करके लिखा गया व्यग्य हीन कोटि का व्यग्य होता है। वह अल्पजीवी होता है। इसी प्रकार अशिष्ट और असंस्कृत व्यंग्य को भी साहित्य में कोई स्थान नही। जब-जब व्यग्य इस स्तर पर उतरा है, उसका साहित्य मे अवमूल्यन हुआ है।

व्यंग्यकार की शक्ति उसकी तटस्थता में निहित है। जब हम स्वयं

---

१. "Satire, in its literary aspect, may be defined as the expression in adequate terms of the sense of amusement or disgust excited by the ridiculous or unseemly, provided that humour is a distinctly recognizable element, and that the utterance is invested with literary form. Without humour, satire is invective, without literary form, it is mere clownish jeering."

[Encyclopaedia Britanica, Vol. 20]

पर[1] तथा स्वयं के समाज पर व्यंग्य करते हैं तो उसमें सौन्दर्य है। लेकिन व्यक्तिगत स्तर पर एक-दूसरे की व्यंग्यपूर्ण भर्त्सना करना अवांछित है। उसमें कुरूपता है। ऐसा व्यंग्य गाली-गलौज के निम्न धरातल पर भी उतर आता है। ऐसा साहित्य चाहे किसी भी विधा में लिखा जाये, सही अर्थों में (genuine) साहित्य नहीं है। वस्तुत: व्यंग्यकार समाज-सुधारक होता है। वह चिकित्सक होता है; त्रासक नहीं।[2]

संसार के सभी देशों में, वर्तमान युग में, व्यंग्य-रचनाओं का प्रचलन उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। अंग्रेजी में व्यंग्य-प्रधान कृतियों का स्वतंत्र अस्तित्व है। व्यंग्य-काव्य, व्यंग्य-उपन्यास तो हैं ही; एब्सर्ड नाटक भी व्यंग्य के ही एक रूप हैं।[3] हिन्दी में भी व्यंग्य-कविताओं और व्यंग्य-उपन्यासों (अपेक्षाकृत कम[4]) की अपनी परम्परा है। व्यंग्य-कविताएं तो हिन्दी में अपना

---

१. "हमहिं देखि मृगनिकर पराही। मृगी कहहिं तुम्ह कहं भय नाही।।
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाये। कंचन मृग खोजन ए आये।।"
(श्रीरामचरित मानस, अरण्यकाण्ड)

२. "distinguish between the physician and a torturer."
[The Study of Poetry : By A. R. Entwistle, P. 70]

३. "Satire is back in fashion : it flourishes in periodicals, on the stage, even on the B. B. C. For the last forty years it has regained the place in serious poetry that the nineteenth century was reluctant to accord even to the satire of Dryden and Pope."
[Dryden's Satire . Edited by D. R. Elloway]

४. उर्दू बेगम ('एक बी० ए०, १९०५ ई०)
कुल्लीभाट (सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'; १९३९ ई०)
बिल्लेसुर बकरिहा (सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'; १९५१ ई०)
सनसनाते सपने (राधाकृष्ण, १९५४ ई०)
हीरक जयन्ती (नागार्जुन; १९६३ ई०)
राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल; १९६८ ई०)
सबहिं नचावति राम गोसाईं (भगवती चरण वर्मा; १९७० ई०)
एक उलूक कथा (श्याम सुन्दर घोष; १९७२ ई०)आदि।

स्थान बना ही चुकी हैं; अब व्यग्य-प्रधान निबन्ध भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना रहे हैं। चूंकि ऐसी कृतिया हलकी-फुलकी होती हैं; केवल इसीलिए सामान्य पाठक उन्हे बड़े चाव से पढ़ता हो; ऐसा नही। राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन की विरूपताओं-विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति के कारण भी पाठक ऐसी रचनाओ के प्रति आकर्षित होते हैं। यह अवश्य है, गंभीर सोद्देश्य व्यग्य लेखन के साथ-साथ चलतू कविताए तथा घटिया किस्म के लेख भी हिन्दी में खूब लिखे जा रहे हैं। सम्भवतः इसका कारण, हिन्दी में प्रकाशित होने वाली अनेक पत्र-पत्रिकाओं की मांग है। इससे ऐसी रचनाओं के प्रकाशन मे सुविधा रहती है। लेखकों को धन और यश (?) दोनों की उपलब्धि सुगमता से होती है। व्यग्य-स्तम्भ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में नियमित हो गया है। हिन्दी में व्यंग्य-काव्य अथवा व्यंग्य-साहित्य पर शोध-कार्य भी हो चुका है तथा हो भी रहा है। व्यंग्य को व्यंग्य के लिए जब अपनाया जाता है तब वह बेदम होता है और चलतू रचनाओं की सृष्टि करना है। पर, जबव्यंग्य एक हथियार—पैने हथियार—के रूप मे लेखक के हाथ मे आता है तब वह सामाजिक स्वास्थ्य की वृद्धि करता है—विकृतियों की शल्य-क्रिया करके।

आजकल मूर्ति-भजन का युग है। दिशाहीन लोग अन्यों की प्रतिमाओ का खण्डन करके अपने को रोशनी मे लाना चाहते हैं। इस कारण आज व्यंग्य एक फैशन भी बन गया है।

व्यंग्य की परिधि

□ रामनारायण उपाध्याय

प्रश्न—आप व्यंग्य क्यों लिखते हैं ?

उत्तर—अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए व्यंग्य से सशक्त और कोई माध्यम नहीं है। जब किसी समाज का शरीर सुन्न पड़ जाता है और उस पर छोटी-मोटी बातों का असर नहीं होता तब उसे व्यंग्य की गहरी चुटकी काटकर ही जगाया जा सकता है। व्यंग्य जो सुई की तरह चुभे पर दर्द पैदा न करे, लाल चिउंटी की तरह काटे, पर अपने पीछे जलन न छोड़ जाये।

प्रश्न—व्यंग्य और हास्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जो अन्तर एक सर्कस के जोकर तथा प्रखर प्रतिभाशाली बर्नार्ड शॉ में है। हंसी तो किसी के ठोकर लगकर गिर जाने से भी आ सकती है, लेकिन व्यंग्य का जन्म दर्द में से होता है। व्यंग्य वही कर सकता है, जिसके दिमाग मे एक स्वस्थ समाज के निर्माण का नक्शा होता है। वह जब अपनी कल्पना के समाज का निर्माण होते नहीं देखता, तो तिलमिलाहट से भर उठता है। उसकी इस मनःस्थिति में से ही व्यंग्य का जन्म होता है।

व्यंग्य उस सर्जन की तरह है, जो समाज के सड़े-गले अंग को काटकर उसे स्वास्थ्य और आनन्द प्रदान करता है। लेकिन व्यंग्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसे भी हास्य में ही ले लिया जाता है। बर्नार्ड शॉ का कहना है कि समाज की कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने पर भी मैं सरे बाजार कोड़े खाने से इसलिए बच गया कि लोगों ने मेरी बात को हंसी में उड़ा दिया।

प्रश्न—आप व्यंग्य को एक स्वतन्त्र विधा मानते हैं या शैली ?

उत्तर—मैं व्यंग्य को स्वतन्त्र ही नहीं, वरन् सशक्त विधा मानता हूं। वह साहित्य की एक ऐसी सशक्त विधा है, जो [illegible] के [illegible] झूठे दंभ के नकाब को उघाड़ फेंककर [illegible]

सकता कि हम जैसे है वैसे ही मिलें और जो हम नही हैं, वैसा दीखने का प्रयास बन्द कर दें।"

प्रश्न—आपको व्यंग्य-लेखन की प्रेरणा कहां से मिली ?

उत्तर—मुझे व्यंग्य-लेखन की प्रेरणा समाज की नकली सस्कृति, झूठी सभ्यता और शासन की गलत नीतियो से मिली। और मैंने गाधी जी के सिद्धान्त के अनुसार, असत्य का नम्रता से प्रतिकार और सत्य का दृढता से, पालन करने के लिए लिखना शुरू किया। लेखन के क्षेत्र में मेरी यह प्रार्थना रही है कि—

"हे प्रभु सच को सच कहना तो बड़ा कठिन है,
झूठ को सच नही कहना पड़े, इतनी शक्ति दो।"

प्रश्न—आपने लेखन के क्षेत्र में व्यंग्य को ही क्यों अपनाया ?

उत्तर—मेरा लेखन व्यंग्य तक ही सीमित नही है। अपनी बात कहने के लिए मैंने ललित निबन्ध, रूपक, रिपोर्ताज जैसी विविध विधाओं का भी प्रयोग किया है। मेरी मान्यता है कि—

"जैसे वृक्ष की एक डाली, खिलने के कितने आयाम दे जाती है, पत्तों के, फूलों के, फलों के। ऐसे एक अच्छा विचार लिखने की कितनी विधाएं दे जाता है निबन्ध की, काव्य की, कथाओं की।"

प्रश्न—व्यंग्य किस स्थिति मे पूर्ण आकर्षक और प्रभावकारी होता है ?

उत्तर—व्यंग्य जब व्यक्ति अथवा सस्था से निरपेक्ष होकर, समष्टि-गत बुराइयों पर, फिर वे चाहे सामाजिक हो, राजनैतिक हो, या साहित्यिक कसकर प्रहार करता है, तब वह सबसे आकर्षक और प्रभावकारी होता है। यो तो व्यग्य कहानी, कविता या निबन्ध किसी भी माध्यम से किया जा सकता है। लेकिन जिस तरह मनोभावनाओं के चित्रण के लिए काव्य ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, कारण उसमें अपनी बात कम-से-कम शब्दों मे कहने की शक्ति होती है, उसी तरह अपने विचारों को प्रकट करने के लिए व्यंग्य ही सबसे सशक्त माध्यम है। क्योकि उसका 'केन्व्हस' इतना विराट् है कि उसमे कवि-सुलभ भाव-प्रवणता और कहानी की कथ्य-शैली—सब का समावेश किया जा सकता है।

व्यंग्य का प्रहार

डॉ० शंकर पुणतांबेकर

व्यंग्य की तात्विक भूमिका—

व्यग्य क्या है? सवाल जितना छोटा है उतना ही उसका उत्तर बड़ा टेढ़ा है। इधर लोगों का व्यंग्य की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है और इसके बारे मे बहुत सोचने-विचारने लगे हैं। अपनी-अपनी तरह से इसके स्वरूप को आकने की चेष्टा कर रहे हैं। कहा जाता है व्यंग्य अनेकविध विरूपताओं-विकृतियों पर प्रहार करता है। जरूर करता है साहब! यह प्रहार लाठी का नही, लेखनी का प्रहार होता है। लाठी के मूर्त प्रहार को तो सहज देखा-परखा जा सकता है, किन्तु लेखनी के अमूर्त प्रहार को देख-समझ पाना, उसका स्वरूप-विश्लेषण कर सकना बड़ी टेढी खीर है। इसे मन-ही-मन गुनते रहिए, बस। चाहे तो कह लीजिए—बड़ा तीखा प्रहार है, चुटीला प्रहार है, मार्मिक प्रहार है, सटीक प्रहार है—या कभी यह भी कह लीजिए बड़ा मीठा प्रहार है।'''अब इधर इस तरह की शब्दावली पर भी प्रहार किया जाने लगा है। उचित भी है, क्योंकि ये शब्दावली उस अनुभूति का ठीक-ठीक आकलन नहीं करा पाती जो व्यंग्य के पढने पर हम अनुभव करते है। ये तो मात्र ऊपरी प्रतिक्रिया हुई। और यही कारण है कि जब तब सवाल उठाया जाता है कि व्यग्य क्या है? इस सवाल के पीछे जहां तक मैं समझता हूं व्यंग्य से किए जाने वाले प्रहार का विश्लेषण ही अपेक्षित है।

यहां एक सवाल यह उठ सकता है कि व्यंग्य यदि प्रहार करता है, तो लोग व्यंग्य पढ़ते क्यों हैं। मैंने तो इधर पाया है कि लोग व्यग्य को बड़े मजे से, चटखारे से पढ़ते हैं? ऐसा क्यों? इसके उत्तर के लिए मैं ज्यादे विस्तार में नही जाना चाहता। त्रासदी यदि जी को दुखाती है, तो लोग इसे क्यो देखते-पढ़ते हैं। काव्यशास्त्रियों ने इसका उत्तर 'कैथारसिस'

प्रश्न—लघु कथा की मूलभूत विशेषताएं क्या हैं ? यह विधा व्यंग्य के लिए कहा तक उपयुक्त है ?

उत्तर—"अपनी बात को कहानी के संपूर्ण गुणो के साथ कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से कहना लघु कथा की मूलभूत विशेषता है। कहानी के तीन प्रमुख गुण हैं। एक तो पहले ही वाक्य से मनुष्य के मन को बांध लेने वाली रोचकता। दूसरे, घटना प्रवाह के साथ निरन्तर बढ़ने वाली उत्सुकता। तीसरे, शिखर पर पहुंचकर ऐसा अनपेक्षित अन्त कि आदमी स्तब्ध-मुग्ध सोचता ही रह जाये। उदाहरण के लिए एक लघु कथा लीजिए—

"शेर ने बकरी से पूछा—"क्यो री बकरी, मांस खायेगी ?"

बकरी ने कहा—"मेरा ही बच जाये तो बहुत है।"

क्या बात है ? इसमे पहला ही वाक्य अत्यन्त रोचक एवं आश्चर्यजनक है कि शेर बकरी से बात करे। दूसरा वाक्य है, उत्सुकता की चरम सीमा, कि शेर बकरी से पूछे कि क्यो री बकरी, तू मास खायेगी ? और तीसरे वाक्य में कैसा शानदार अनपेक्षित अन्त है, जब बकरी कहती है, "मेरा ही बच जाये तो बहुत है।" आज की शोषणकारी समाज-व्यवस्था पर इससे तीखा व्यंग्य, लघु कथा के माध्यम से, दूसरा हो नहीं सकता।

व्यंग्य का प्रहार

□ डा० शंकर पुणतांबेकर

व्यंग्य की तात्विक भूमिका—

व्यंग्य क्या है ? सवाल जितना छोटा है उतना ही उसका उत्तर बड़ा टेढ़ा है । इधर लोगों का व्यंग्य की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है और इसके बारे में बहुत सोचने-विचारने लगे हैं । अपनी-अपनी तरह से इसके स्वरूप को आंकने की चेष्टा कर रहे हैं । कहा जाता है व्यंग्य अनेकविध विरूपताओं-विकृतियों पर प्रहार करता है । जरूर करता है साहब ! यह प्रहार लाठी का नहीं, लेखनी का प्रहार होता है । लाठी के मूर्त प्रहार को तो सहज देखा-परखा जा सकता है, किन्तु लेखनी के अमूर्त प्रहार को देख-समझ पाना, उसका स्वरूप-विश्लेपण कर सकना बड़ी टेढ़ी खीर है । इसे मन-ही-मन गुनते रहिए, बस । चाहे तो कह लीजिए—बड़ा तीखा प्रहार है, चुटीला प्रहार है, मार्मिक प्रहार है, सटीक प्रहार है—या कभी यह भी कह लीजिए बड़ा मीठा प्रहार है ।···अब इधर इस तरह की शब्दावली पर भी प्रहार किया जाने लगा है । उचित भी है, क्योंकि ये शब्दावली उस अनुभूति का ठीक-ठीक आकलन नहीं करा पाती जो व्यंग्य के पढ़ने पर हम अनुभव करते हैं । ये तो मात्र ऊपरी प्रतिक्रिया हुई । और यही कारण है कि जब तब सवाल उठाया जाता है कि व्यंग्य क्या है ? इस सवाल के पीछे जहा तक मैं समझता हूं व्यंग्य से किए जाने वाले प्रहार का विश्लेपण ही अपेक्षित है ।

यहां एक सवाल यह उठ सकता है कि व्यंग्य यदि प्रहार करता है, तो लोग व्यंग्य पढ़ते क्यों हैं । मैंने तो इधर पाया है कि लोग व्यंग्य को बड़े मजे से, चटखारे से पढ़ते हैं ? ऐसा क्यों ? इसके उत्तर के लिए मैं ज्यादे विस्तार में नहीं जाना चाहता । त्रासदी यदि जी को दुखाती है, तो लोग इसे क्यों देखते-पढ़ते हैं । काव्यशास्त्रियों ने इसका उत्तर 'कैथारसिस'

द्वारा दिया है। तात्पर्य त्रासदी हमारे दुख के पीप को निकाल बाहर करती है। इसलिए वह दुखद होते हुए भी अतत सुखद ही होती है। और यही बात हम व्यग्य के प्रहार के संबध मे कह सकते हैं।

सामान्य तौर से व्यंग्य के सबध में कहा यह जाता है कि वह विरूपताओं-विकृतियों को ही अपने में समेटे रहता है और उन्हें सीधे-सीधे प्रस्तुत नहीं करता। उसके प्रस्तुतीकरण मे टेढापन, पैनापन अवश्य विद्यमान रहता है। इस तरह कथ्य और कथन की दृष्टि से व्यग्य के सबध में कहीं भी उलझन और भटकाव नही है। किन्तु हमे यहा यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अन्य विधाओं में जहां कथन-प्रक्रिया या कथन-शैली का महत्त्व कथ्य की तुलना मे गौण है, वहां व्यंग्य मे इसे तनिक भी गौण मान लेना उचित नही होगा। कथन-शैली मे यदि टेढापन या पैनापन नही होगा तो केवल विरूपताओं-विकृतियो का निर्देश व्यंग्य नही कहा जा सकता। हां, कथन-शैली का चमत्कार मात्र भी व्यंग्य की कोटि मे नही बैठ सकता।

हम जिसे व्यंग्य का प्रहार कहते हैं वह इसी कथन-शैली में निहित होता है। परिवेश की विरूपताओं को देखने की सूक्ष्म दृष्टि हर साहित्यकार में हो सकती है—होती ही है, किन्तु उसे बाकपन से प्रस्तुत कर पाना—उन विद्रूपताओ को ऐसी शैली में पिरो देना है कि उससे हमारा वैचारिक मन एक झटके के साथ आलोड़ित-विलोड़ित हो उठे, केवल व्यंग्यकार के लिए ही संभव है। जब कभी हम स्वयं ऐमी विद्रूपताओं के लिए जिम्मेदार हों तो यह विलोड़न हमारे मन में एक तीव्र कचोट पैदा कर देता है जो कि व्यंग्यकार का लक्ष्य होता है।

बडी अजीब तरह की होती है यह कचोट। हम गाली देने वाले को गाली सुनाने लगते है, भले ही हम दोषी क्यों न हों। यहां इस कचोट में हम व्यग्य करने वाले से कुछ भी नहीं कह पाते, उलटे हमारी सोयी हुई अपराध भावना जाग उठती है और कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो, हम एक विचित्र-सी बेचैनी का अनुभव करने लगते हैं। और मैं समझता हूं जिसे हम व्यग्य का प्रहार कहते हैं वह यही अपराध-भावना को जगाना है।

क्या इस अपराध-भावना के जागने पर हम में सुधार हो जाता है? व्यंग्य या किसी भी साहित्य-विधा के संबध में इस प्रकार का प्रश्न फिजूल

है। श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साहित्य की प्रतियां आप घर-घर बांट दीजिए। क्या आप समझते हैं इससे समाज को श्रेष्ठता प्राप्त हो जायेगी? साहित्य इस दृष्टि से लिखा ही नही जाता। व्यंग्य भी नही, यद्यपि वह विद्रूपताओं पर चोट करता है। हर तरह के साहित्य का काम है 'चेतना में हलचल' पैदा कर देना। व्यग्य भी यही करता है। यह हलचल वह जरा ज्यादा तीव्रता के साथ पैदा करता है, इतना ही। अंततः इस तरह की हलचल कभी-न-कभी अपना असर दिखाती ही है।

अब जरा व्यग्य रचनाकार की मानस-प्रक्रिया क्या होती है, इसका थोड़ा विचार करूं। समान जीवन-स्थितियों को अन्य साहित्यकार और व्यंग्यकार समान मन.स्थितियों के साथ नही भोगते। उदाहरणस्वरूप कथाकार को ही लें। कथाकार एक तो बहुत अधिक भावुक हो सकता है या बहुत अधिक तटस्थ। इसके विपरीत व्यंग्यकार एकदम जीवनगत सत्य के निकट रहता है और यथार्थ-जगत् से पूर्णत. संपृक्त। जीवन से सीधा साक्षात्कार जितना व्यग्यकार का होता है, उतना कथाकार का नही। व्यंग्यकार जीवन की विसंगतियों और विडबनाओ को जिस तीव्रता से भोगता है, उतना शायद कथाकार नहीं। ये विपरीत स्थितियां व्यग्यकार में तीव्र आक्रोश और वितृष्णा पैदा करती है और यही मनोदशा उसकी सृजनशीलता को क्रियाशील बनाती है। कथाकार के लिए भी इस तरह की मनोदशा सृजन की उत्तेजक बन सकती है और बनती भी है, किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण में वह कचोट और तिलमिलाहट पैदा करने की शक्ति नही होती जो व्यंग्यकार अपनी विशिष्ट शैली के माध्यम से हमारे मन में पैदा कर देना चाहता है।

व्यंग्य का प्रयोजन—

आज कितना ही साहित्य पैसे के लिए, छपने की सुविधा के लिए लिखा जा रहा है—सो व्यंग्य भी। अब इस प्रयोजन से लिखा जाने वाला साहित्य मान्य कसौटी पर कितना खरा उतरता है, यह अलग बात है। पैसे के लिए या छपने की सुविधा के लिए लिखा गया हर साहित्य निकृष्ट ही होता है, ऐसी बात तो नही। पर व्यावसायिकता या नामवरी की

अभिलाषा से साहित्य का स्तर गिरता अवश्य है। व्यंग्य के मामले में भी ऐसा हुआ है और खूब हुआ है। रोजी-रोटी के लिए लिखे जाने वाले व्यंग्य की तो फिर बात करना ही व्यर्थ है।

व्यग्य सबसे अधिक किस पर हों—

व्यंग्य विद्रूपताओं पर ही अधिक किया जाना चाहिए, फिर ये किसी भी क्षेत्र की हों और इनके लिए जो भी जिम्मेदार हो उसे बिलकुल स्पेयर नही करना चाहिए। व्यग्यकारों ने आज राजनीतिक विकृतियों पर तो खूब लिखा है, अन्य पक्षों पर कम। उदाहरणस्वरूप मध्यमवर्गीय जीवन के बनावटीपन, उसके खोखले आदर्श और उसकी नकली अहमन्यताओ पर करारे व्यग्य आज बहुत इने-गिने हैं। इन पर खूब लिखा जाना चाहिए। किसी व्यंग्यकार को भी व्यंग्य के तीखे प्रहारों से मुक्त नही रखना चाहिए यदि वह भी इन बुराइयो का शिकार है।

व्यंग्य की भाषा—

व्यग्य-भाषा और साहित्य-भाषा अलग-अलग केवल इस मायने में हो सकती हैं कि व्यंग्य की भाषा में पैनापन अधिक होता है। भाषा मे पैनापन न हो तो रचना, व्यंग्य-रचना नही रह जाती। एक लघु कथा है—'शब्दों के आमू' (कैनेडीवाला, सारिका, जुलाई ७५)। कथा यह है कि सरकार 'आश्वासन' 'कड़ी कार्यवाही' 'न्यायिक जांच' 'खर्च में कटौती' जैसे शब्दों का प्रयोग बारम्बार करती है, किन्तु वह उनका पालन नही करती। इससे इन शब्दों का जनता की दृष्टि मे महत्त्व खत्म हो गया है। अब इस बात को यदि ऐसे ही सीधे-सीधे कह दिया जाये तो रचना का वह प्रभाव नही पड सकता जो व्यंग्य की अपनी भाषा में प्रस्तुत करने से पड़ सकता है। यहां पर लेखक ने व्यंग्य का पैनापन लाने के लिए सरकार द्वारा प्रयुक्त इन शब्दों का मानवीकरण कर दिया है। ये शब्द मन्त्रीजी के बंगले पर जाते हैं और उनके चरणों में पड़कर गुजारिश करते हैं कि हम नाचीज शब्दों को आप प्रयोग मे न लायें तो बड़ी मेहरबानी होगी। इसी तरह एक और उदाहरण दिया जा सकता है। कालिदास सेन की एक अति सक्षिप्त

लघु कथा है—'आयकर' (सारिका, जनवरी ७५)। इसमें आयकर अधिकारियों के भ्रष्टाचार पर तीखा प्रहार है। एक इंडस्ट्रियलिस्ट इंद्र महोदय हिसाब के कागजों के साथ अपनी टाइपिस्ट मिस मेनका को आयकर अधिकारी विश्वामित्रजी के यहां भेजते हैं। जब वह पहुंचती है तो चपरासी दरवाजा खोलते हुए कहता है—"साहब बेडरूम में आपका ही इंतजार कर रहे हैं।" कितनी सटीक भाषा में लेखक ने अपनी बात कही है! तात्पर्य यह है कि अन्य साहित्यकार और व्यग्यकार की जहां जीवन-स्थितियों की मानसिक पकड़ में अंतर होता है, वहां उसकी भाषा और रचना-प्रक्रिया में भी बड़ा अंतर होता है। व्यंग्यकार अपने विषय को ऐसी विशिष्ट भंगिमा में प्रस्तुत करता है कि वह हमारी चेतना या संवेदनशीलता को एकदम एक झटका-सा दे जाती है। यह कार्य वह बिलकुल योजनाबद्ध रूप में करता है। और स्वाभाविक है कि इसके लिए वह अपनी भाषा की, अपनी शैली की, अपनी भंगिमा की अवश्य खोज करेगा। समर्थ व्यंग्यकार तो सपाटबयानी के द्वारा भी अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते है यद्यपि यह सपाटबयानी भी अपने आपमे एक भंगिमा है। हरि शंकर परसाई की कितनी ही रचनाएं इस तरह की हैं। उनकी कथा 'जाति' को ही लीजिए। सीधी-सीधी सपाटबयानी है। ठाकुर और पंडित को यह बात पसंद नहीं कि एक का बेटा दूसरे की बेटी से शादी कर ले, क्योंकि जाति चली जायेगी। उन्हें जब बताया जाता है कि यदि यह शादी न हुई तो दोनों परस्पर मिलते रहेंगे और यह व्यभिचार होगा तो वे कहते हैं—होने दो। व्यभिचार से जाति नहीं जाती, शादी से जाती है। सामान्यतः व्यंग्य की भाषा मे प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता और ध्वन्यात्मकता का आधिक्य होता है।

क्या हिंदी में ही नकली व्यंग्य है—

नकली, फरमाइशी और फैशनेबुल व्यंग्य हिंदी में ही नहीं अन्य भाषाओं मे भी हैं। मैं अपने प्रांत महाराष्ट्र की बात करूं। मराठी में इस तरह का व्यंग्य मेरी राय में हिंदी से कई गुना ज्यादा है। लेकिन एक बात है। मराठी व्यंग्य में विविधता खूब है। मराठी व्यंग्यकार की कमजोरियां हैं

शब्दों का खेल और अश्लीलता। जो व्यंग्यकार इन कमजोरियों से बचे हैं उन्होने इतने उच्च दरजे का साहित्य दिया है कि हम हिंदी वालों को इससे ईर्ष्या हो सकती है। मराठी व्यग्य के संबंध मे एक बात और है। इन व्यंग्यकारों को हम हिंदी व्यंग्यकारों की तरह हास्य से एलर्जी नही है।

क्या व्यंग्य भ्रष्ट हो रहा है—

कचोट, तिलमिलाहट या चेतना मे हलचल पैदा कर देनेवाला व्यग्य हिंदी में इधर बहुत लिखा गया है। उदाहरणस्वरूप केवल इने-गिने बड़े लेखकों की ही नही छोटे-मोटे कितने ही लेखकों की रचनाए प्रस्तुत की जा सकती हैं। हां, जब किसी विधा की बाढ़ आती है, तो उसमें कूड़ा-कचरा भी होता है, बल्कि ज्यादा मात्रा मे होता है। बड़े लेखकों मे भी पाया जाता है। लेकिन इस सबसे अलग हटकर इस बाढ़ मे से अच्छी रचनाओ को छांट पाना मुश्किल नही है। इधर मैंने अभी-अभी हिंदी की व्यग्य लघुकथाओं का एक सग्रह तैयार किया है। कथाओं को चुनते समय इतनी अच्छी-अच्छी रचनाएं हाथ लगी कि किन्हें लू किन्हें छोड़ दू यह मेरे लिए एक बड़ी समस्या बन गयी, क्योंकि मुझे एक निर्धारित संख्या मे बहुत आगे नही जाना था।

आज के व्यंग्य पर कुछ लोगों का आक्षेप यह है कि इसमें सघर्षो से घिरे और दिन-रात चाटे खा रहे असहाय और मूक लोगों की पीड़ा का स्वर कम है। वाचस्पति उपाध्याय कहते हैं—'हिंदी के बड़े व्यंग्यकारो की रचना अततः अघाये हुए आदमी के पक्ष में जाती है। होना चाहिए उसे सताये हुए आदमी की ओर।' इस आक्षेप पर रामावतार चेतन की प्रतिक्रिया है—'इस उद्‌भावनाकार की व्यंग्य की समझ पर मुझे पूरा संदेह है। व्यग्य का लक्ष्य यदि अघाया हुआ व्यक्ति है तो रचना निश्चय ही सताये हुए वर्ग के पक्ष में जायेगी। व्यग्य द्वारा शोषक वर्ग पर चोट करने वाला लेखक शोषक का पक्षधर कैसे हो सकता है। वह तो परोक्ष मे सर्वहारा वर्ग का ही पक्षधर हुआ।'

मैं समझता हूं रामावतार चेतन की उक्ति मे बल है।

फिर व्यावसायिक व्यंग्य को ही देख-परखकर हम यह नही कह सकते

प्रशासन मे भ्रष्टाचार, जीवनावश्यक वस्तुओं का अभाव, कमरतोड़ महंगाई और दमन आदि बढ़ते हैं। इस पर भी वह दुहाई देती है स्वच्छ परंपराओं की और नैतिकता की। देखिए हरि शंकर परसाई की कथा—'मुंडन'। इसमें सरकार की खोखली नैतिकता पर कैसा तीखा प्रहार है। राजनेता की बगुला-छाप देशभक्ति पर तो एक-एक व्यंग्यकार ने ऐसा मोर्चा साधा है कि आज राजनेता अपनी सही प्रतिमा खो बैठा है। जनमानस में उसकी प्रतिमा आज देशसेवक की नहीं, देश सेवा के नाम अपना उल्लू सीधा करने वाले एक नारेबाज की रह गयी है।

राजनीतिक विद्रूपताओं के अलावा बुद्धिजीवियों की असंगतियां भी आज के व्यग्य का विषय बनी हुई है—यद्यपि ऐसे व्यंग्यों की संख्या कम है। इसमे लेखक, कवि, सपादक, शोधकर्त्ता, फिलासफर आदि सभी हैं। उदाहरणस्वरूप सम्मेलनो के मच पर कलाबाजी और गलाबाजी की बदौलत अपना सिक्का जमानेवाले कवियों पर शरद जोशी का 'सोनचिरैया' ले लीजिए, या दिनकर सोनवलकर की कविता 'आत्मीयता' जिसमें साहित्य-जगत् की ईर्ष्या पर खासा व्यंग्य है।

आम आदमी के व्यवहार मे पाये जाने वाले उस खोखले बड़प्पन पर भी काफी तीखे प्रहार किये गये हैं जो कुलीनता, दहेज, फैशनपरस्ती, अंग्रेजी शिक्षा के मोह आदि के रूप मे हमारे समाज मे व्याप्त है। इस दृष्टि से *अजातशत्रु, रवीन्द्रनाथ त्यागी, नरेन्द्र कोहली, श्याम सुन्दर घोष आदि* की रचनाएं द्रष्टव्य हैं।

धर्म के नाम पर व्याप्त कुरीतियों और आडंबरो पर प्रहार करने मे भी आज के व्यंग्यकार पीछे नही है। विस्तार भय से मैं उदाहरण प्रस्तुत नही करना चाहता।

तात्पर्य, आज का व्यग्य वह चाहे गद्य का हो चाहे पद्य का, हमारे जीवन के सभी पक्षों की असंगतियों-विसंगतियों पर मोर्चा साधे हुए है, यद्यपि प्रमुख मोर्चा राजनीतिक पक्ष पर है।

इस मोर्चे मे लेखक की प्रतिबद्धता में यदि खामिया हो तो इनसे भी उसे लड़ना होगा।

बुराइयों के प्रति प्रतिक्रिया व्यंग्य

□ श्रीकांत चौधरी

मानव को सबसे अक्लमंद जानवर कहा गया है इसलिए कि इसमे प्राकृत रूप मे अपने और दूसरे के अंतरंग और बाह्य जगत् में झांकने की क्षमता है। एक व्यक्ति किसी दूसरे को किसी प्रकृति-विरुद्ध या असगत कार्य करते देख अपनी जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है उसका एक रूप 'व्यंग्य' भी हो सकता है ! अन्य विधाओं की बजाय 'व्यंग्य' के रूप में व्यक्त की गयी प्रतिक्रिया अधिक प्रहारक व विवेकशील होगी और यह प्रतिक्रिया आदिम सभ्यता से ही व्यक्ति की, तथा व्यवस्था की बुराइयों या असंगतियों के खिलाफ शुरू हो गयी होगी। सहज रूप में किसी बात को कहने मे वह प्रभाव उत्पन्न नही होता जो 'व्यंग्य' के माध्यम से होता है। शुरुआत में मानव की सारी बुराइयों का ठेका ईश्वर-अल्लाह के नाम हो जाता था और बुरे लोग साफ बच जाते थे। लेकिन सूक्ष्म-पारखी विवेक-सम्मत व्यक्ति ने इन्हें पकड़ा और उसने इन पर अपनी प्रतिक्रिया तीखे, पैने और चुटीले ढंग से की, *यही व्यंग्य हो गया। कहने का मतलब यह कि अन्य* माध्यमों से 'व्यग्य' का माध्यम अधिक सत्य और प्रहारक है तथा नयापन लिये हुए भी। अतएव 'व्यंग्य' लिखे जाने शुरू हुए और इसलिए व्यग्य लिखे जाते रहे कि व्यक्ति और उस पर शासन करने वाला सम्प्रदाय अपनी जानवर-मनोवृत्ति अभी नहीं छोड़ पाया और इसलिए व्यग्य-लेखन बरकरार रहेगा (रहना चाहिए) कि समाज और देश के एक नगण्य किन्तु सशक्त और शोषक वर्ग ने अपनी जानवर-मनोवृत्ति को मुक्त नही किया, और न ऐसी संभावना है। *अतः आदमी की मुक्ति का यह सशक्त हथियार* उसके लिए आवश्यक है। मैं समझता हूं कि उपरोक्त बातें इस बात को स्पष्ट करने के लिए काफी है कि 'व्यग्य' की जबरदस्त ऐतिहासिक और तात्त्विक भूमिका है।

अनेक वेद, शास्त्र, पुराण (यदि उनके धर्मान्धता-ग्रस्त अश हम छोड़

दें) आदि प्राचीन ग्रंथों में व्यंग्र के तात्कालिक व्यवस्था (व्यवस्था से मेरा अर्थ शासक दल के अलावा—नीच, धूर्त, मक्कार समर्थ व्यक्ति से भी है) पर बड़े सटीक, तीखे और औचित्यपूर्ण प्रयोग मिलते हैं। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक जड़ता और विसगतियों पर कबीर के 'व्यग्य' क्या मूल्य रखते हैं, यह लिखने की बात नही। जो लोग व्यंग्य को शाश्वत-अशाश्वत के विवाद में घसीटते हैं उन्हे पहले कबीर को थोडा बहुत पढ़ लेना चाहिए।

प्रत्येक छोटा-बड़ा साहित्यकार यश का भूखा होता है (पैसा तो चाहिए ही)। जीने के लिए खाना बुरी बात नही, लेकिन खाने के लिए जीना, पैसे के लिए व्यंग्य लिखना, छपने की सुविधा के लिए लिखना बहुत घातक बातें हैं। यह अपने से अधिक उस समूचे समूह से विश्वासघात है जो शोषण, रूढिवाद, धर्मान्धता व सत्ताधारियों के अन्तर्गत प्रचार का शिकार है। 'स्वीकृति' या फैशन या छपास के लिए लिखा गया लेखन वैसा ही है जैसा कोई व्यक्ति प्रधानमत्री पद पाने के लिए पार्टी का विभाजन करे, अतरात्मा की आवाज बुलंद करे और चुनाव लड़ डाले। अन्यथा व्यंग्य-लेखक का मुख्य कार्य—श्री हरि शकर परसाई के शब्दों मे—"उसे रोग, रोग की स्थिति, लक्षण और निदान सभी के लिए लिखना पड़ता है।" श्री दिनकर सोनवलकर के शब्दो में—"साहित्य की सबसे बडी अदालत व्यंग्य है जहां किसी के बारे मे व्यंग्यकार सत्य और न्याय का दो टूक फैसला करता है!" यों असल के साथ नकल तो हमेशा चलती है और कभी-कभी नकल ही असल हो जाती है, और साहित्य की प्रत्येक विधा की तरह 'व्यग्य' में भी कुछ नकलची इस दिशा मे सक्रिय हैं। यह 'व्यग्य' का नही, लेखक का दुर्गुण है। कुछ लोगों ने गीत-कहानी या निबंध-कविताएं लिखनी शुरू कीं, लेकिन उन्हे प्रतीत हुआ कि वे अपने यश व अर्थलाभ के प्रति लापरवाह हैं—वे 'व्यंग्य' लिखने लगे या कुछ भी लिखा और उसे 'व्यंग्य' के रूप में ज्ञापित कराने लगे। यह लेखन का मार्किट था, जिसमें व्यंग्य-लेखन का माल खूब चल रहा था, खुद व्यंग्य की समझ नहीं है लेकिन अपने को व्यंग्यकार भी समझने का दावा सुरक्षित है। इस लेखकीय भ्रष्टाचार तथा अवसरवादिता ने 'व्यंग्य' को भ्रामक बनाया। मैं ऐसे कई लोगों

को जानता हूं जो व्यंग्य नहीं लिखते थे पर लिख लेते हैं, कभी-कभी।

व्यंग्य का चरित्र होना चाहिए यह तो निर्विवाद है पर वह क्या हो, इसे तय करना कठिन है, अभी तक परम्परा चली आ रही है कि लेखन मे समाज और सत्ता के प्रति विद्रोह और क्रांति हो तथा व्यवहार में लेखक महोदय इतने सहृदय, मृदुल और विनम्र हों कि समाज और सत्ता उन्हें अपना सर्वश्रेष्ठ अनुयायी माने ! व्यंग्य-लेखन मे यह घृणित और हास्यास्पद चरित्रहीनता बर्दाश्त नही की जा सकती (नही की जानी चाहिए) जिनका लेखन धंधा है और जो अब भी कलावादी, सौदर्यवादी दृष्टि से अभिशप्त हैं। उनके लिए चरित्र और लेखन दो पृथक् ध्रुव हो सकते हैं (यह दर-असल अव्वल दर्जे की धूर्तता है !) अन्यथा, खासकर व्यंग्यकार के चरित्र और लेखन में अधिकतम समानता होनी चाहिए। और बेशक यह चरित्र अधिकतम यथार्थवादी, दबंग और सत्यप्रिय हो।

सबसे अधिक व्यग्य क्या व्यंग्यकार पर हो ? तो यही निवेदन है कि भारत का शासक वर्ग नेता है। अफसर और पुलिस इस मामले मे इस कदर आगे है कि अभी व्यग्यकार को इतना पतित और भ्रष्ट होने मे असभावित समय अपेक्षित होगा।

व्यग्य की भाषा, साहित्य की भाषा से पूरी तरह विलग होकर अपनी अभिव्यक्ति सामर्थ्य खो सकती है और पूरी तरह जुड़कर अपना प्रभाव बढा सकती है, मूल तत्त्व जिस पर कि हमारा ध्यान होना चाहिए वह यह कि व्यंग्य भाषा 'जनसामान्य' के ही अधिकाधिक निकट होनी चाहिए। व्यंग्य भाषा का अतिरिक्त स्वरूप इसी अर्थ मे हो सकता है कि भाषा व्यंग्य में प्रयुक्त हो रही है, अन्यथा नही।

मुझे नही मालूम कि हिंदी के अलावा किन-किन भाषाओं में नकली, फरमाइशी, फैशनेबुल, व्यंग्य हैं; परंतु लेखकों का एक वर्ग, प्रकृत रूप से ही चालाक और मक्कार होता है, यह तय है, इसलिए अन्य भाषाओ में भी ऐसा होगा। इसमें मुझे सदेह नहीं, कम या ज्यादा का प्रश्न उठ सकता है और ऐसा होने का कारण ? लेखक की छपाशा (छपने की आशा) पैसा, प्रोपेगण्डा तथा अपने आप को सर्वगुण-सम्पन्न प्रदर्शित करने की हराम-खोर प्रवृत्ति है, और ऐसा करने मे किसी गंभीरदायित्व या गहरी समझ

की कतई आवश्यकता नही है।

जिस रूप में आज भ्रष्टाचार का प्रचार-प्रसार हो रहा है उस रूप व स्तर पर 'व्यंग्य' भ्रष्ट नही हो रहा। अगर हमने इस पर जरूरत से ज्यादा ध्यान दिया तो जरूर ऐसा लगेगा। सबसे अधिक चिंतनीय स्थिति गलत मूल्यांकन, व्यावसायिक लेखन और गलत समझ से पैदा होती है और कई लोग 'बंदर के हाथ मे छुरा' लेकर 'व्यग्य' के बारे मे वक्तव्य देने लगे है। खुद की औकात 'व्यग्य' के पहले शब्द से भी घटकर है लेकिन निस्संकोच होकर परसाई, सोनवलकर, जोशी, श्रीलाल आदि के बारे मे निर्णायक फैसले दे देते है। यह तय है कि इन भ्रांतियों की उम्र अधिक नही रहती, लेकिन तात्कालिक लाभ तो मिल ही जाता है। 'व्यग्य' का प्रवेश सुगठित रूप से, हिंदी में अभी बहुत पुराना नही है लेकिन जिस तेजी के साथ हो रहा है उससे यह सोचना गलतफहमी ही होगी कि हिंदी में 'व्यंग्य' नही आ पाएगा।

'व्यंग्य' के स्पष्ट रूप के सबंध मे जो सबसे बड़ी अड़चन रही है वह यह कि कुछ प्रख्यात पत्रों में प्रकाशित हास्य-व्यग्य-विनोद-मुस्कान आदि को व्यंग्य मान लिया गया और प्रकाशको ने सभी ऐसी रचनाओं को व्यग्य-सग्रह के रूप में विज्ञापित किया। बेहतर होगा कि विभिन्न पत्रिकाएं इस सबध में पूरी-पूरी गंभीरता का परिचय दें।

अंत में यही कहना चाहता हूं कि अभी 'व्यंग्य' की शुरुआत है, प्रारंभ आशानुकूल बहुत अच्छा है, लेकिन व्यंग्य का अंत नही होगा, हो भी नही सकता—अंत तक की पहुंच अच्छी या बुरी हो सकती है पर अंत नही है, क्योंकि जब तक आदमी अपनी प्राकृतिक विशेषताओं के साथ जिंदा है, 'व्यग्य' जिंदा है। व्यग्य, लेखक की जिंदगी का बड़ा गंभीर और जोखिम-भरा सार्वजनिक दायित्व है। और व्यग्य-लेखन अपने आप में सबसे बडा मानवतावाद।

परिचर्चा में उठाये गये ये प्रश्न न सिर्फ बहुत मौलिक है वरन् बहुत विचारणीय। इन्हें बहुत पहले सामने आना था।

इनका उत्तर देते हुए मैं सोच रहा था कि १०-२० विदेशी व्यग्य-लेखको, दर्शनाचार्यों के उद्धरण भी साथ ही देता (ताकि पाठक पर

पांडित्य का काफी गहरा प्रभाव पड़ता, वह आतंकित होता), मगर अफसोस कि मुझे अपने ही देश के साहित्यकारों के बारे में बहुत कम जानकारी है। वरना विदेशी लेखकों के कथन, अंग्रेजी के कुछ साहित्यिक शब्द आदि का प्रयोग करने के उच्चस्तरीय लेखक के फैशन से मैं न चूकता।

'व्यंग्य' अपने आप से लेकर हम, तुम और वह की यात्रा है जो गंभीरता से पूरी करना मैं अपना गंभीर दायित्व मानता हूं।

अभिव्यक्ति का नया मार्ग—व्यंग्य

□ डॉ० सरोजनी प्रीतम

व्यंग्य अभिव्यक्ति की प्रखरतम विधा है। व्यंग्यकार भी शायद कोलम्बस की नाईं अभिव्यक्ति का नया मार्ग खोजने निकला और उसे एक नयी सर्जना का श्रेय मिल गया। वस्तुतः कहा-सुनी की प्रक्रिया में कहने-सुनने के भिन्न माध्यम की आवश्यकता थी और इसी आवश्यकता का, व्यंग्य, एक ऐसा आविष्कार है जो युग का न होकर युग-युग का अस्त्र बन गया। लेकिन इस शस्त्र को चलाना हर किसी के वश में नहीं। औरों की बात काटकर अथवा तर्क से काटकर कथन को दो-टूक किया जा सकता है। किन्तु कथन स्वयं मे ही 'और कछु' की अभिव्यक्ति लिये हो तो क्या कहने। व्यंग्यकार का एक बहुत बड़ा दाय है कि वह अपनी कटूक्तियों से समाज के सड़े-गले अंग पर प्रहार कर उसे विच्छिन्न करने की चेष्टा में रहता है। इस प्रहार के लिए शैली की प्रत्यंचा शब्दवेधी बाण छोड़ती है। तीर सनसनाती मुद्रा मे छूटते ही लक्ष्यवेध करते हैं। इस समय उन छूटे हुए तीर को यदि पथ के पड़ावों का निर्देश दिया जाये तो वह उन पड़ावों पर ठहर-ठहरकर, कथन की भूमि को मात्र नख से कुरेदने की चेष्टा नही करेगा। उच्छेदन उसका स्वभाव हो चुका है। अतः यदि व्यंग्यकार के साथ कुछ मान्यताए, कुछ निर्देश जोड़ दिये जाते हैं, उसे विशिष्ट विषय के प्रति लिखित प्रतिक्रियाओं के लिए बाध्य किया जाये तो यह अनुचित होगा।

प्रतिभा का अंकुर स्वतः मिट्टी को हटाकर अपने विकास के लिए सिर उठाता है। धीरे-धीरे विकास पाकर फलीभूत होता है। व्यंग्य भी युगों से साहित्य में था। कभी यह अभिव्यक्ति का संकट बनकर सम्मुख आया तो कभी संकट की अभिव्यक्ति ने उसे नया विधान दिया, नया रूप दिया और वस्तुतः उसके रूप में समय-समय पर होने वाला परिवर्तन, इसकी [illegible] को शक्तिमान करता रहा।

तीव्रता स्थितियों में होती है, प्रखरता अभिव्यक्ति में और [illegible]

समय हम जाने किन स्थितियों से मोर्चा ले रहे होते हैं, कितनी स्थितियों को काट गिराने में हम समर्थ होते हैं, इसका भान केवल रचना की प्रतिक्रियाओं से ही लगाया जा सकता है।

व्यंग्य ने राजा जयसिंह की मानसिक दशा को नयी दिशा दी और व्यंग्यकार को राज्याश्रय। बिहारी के पात्र 'भरे मौन में नैनन सों' बात करने में पटु थे और नायिका 'नैन नचाय कह्यो मुस्काय लला फिर आइयो खेलन होरी !' कहने में निपुण। पात्रों से सीधे-सीधे सब कुछ कहलाने में वह रस, वह आनन्द नहीं मिलता जो इस प्रकार के कथनों से प्राप्त होता है। हालांकि व्यंग्य प्रत्येक काल में किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति का माध्यम रहा। किन्तु उसकी सशक्तता, आधुनिक युग में अनन्य है। आज का व्यंग्यकार नैनों की भाषा को अपने सधे हाथों से सम्पादित करके प्रस्तुत करता है।

बदलती परिस्थितियों के साथ व्यंग्य का भी रूप, रंग, आकार बदला और बदलते समय ने उसे एक नया व्यक्तित्व दे दिया है। हिन्दी साहित्य में यों तो अनेक व्यंग्यकार होंगे और वास्तव में हर लेखक में व्यंग्य का पुट रहता ही है। सीधे से बात करना किसी भी लेखक का स्वभाव नहीं होता और यदि है तो वह लेखक नहीं। किंवा लेखक होकर वह मात्र सामयिकता के साथ कुछ इस रूप से जुड़ा है कि उसकी अभिव्यक्ति तत्कालीन समर्थन बेशक प्राप्त कर ले किन्तु स्थाई रूप ग्रहण नहीं कर सकती। व्यंग्यकार का कथन अष्टावक्री वक्रता से युक्त रहता है। यही कथन की वक्रता गोपियों के हृदय में 'तिरछे ह्वैं जु गड़े' की-सी पाठक के हृदय में गड़ जाती है। किसी भी व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व की इससे अधिक सशक्तता का और क्या प्रमाण हो सकता है !

कुछ व्यंग्य-लेखक मात्र शब्दों का हेर-फेर करके, फिल्मी गीतों की धुनों पर कुछ लिखकर, कबीर-रहीम के दोहों के कलेवर से आत्मा निकाल कर भुस भरने का काम बड़ी तत्परता से कर रहे हैं। मंच पर पहुंचकर वाहवाही लूटने के प्रयास में वे अट-संट कुछ भी कहते हैं। मात्र ठहाका, हास्य की प्रतिक्रिया नहीं है, मात्र तालियां पीटकर 'वंस मोर' की आवाजें ही हास्य की प्रतिध्वनि नहीं, जो लोग यह समझते हैं वे हास्य और व्यंग्य के

साथ सरासर अन्याय करते है। क्या यही सबसे बड़ा व्यंग्य नही है कि जो लोग व्यग्य में ख्याति प्राप्त करने की धुन में कुछ भी लिख देते है, वे व्यंग्य से हो अवगत नही।

आज के युग मे, व्यंग्यकार अपने कन्धे पर एक बहुत बड़ा दाय लेकर बढ रहे हैं। उलूक, गिरगिट सदा से ही उसके लिए श्रद्धा के पात्र रहे, अभिव्यक्ति के माध्यम बनकर गिरगिट के हर रंग को उन्होने अपने कथन की तरह मानकर पल में तोला, पल में माशा बनकर, इस प्रवाह को नयी दिशा, नये मोड़ दिये है। यह तेज धारा की तरह अपने प्रवाह मे बहुत कुछ समेट रहा है, अनेक भूमियों को उर्वर करता हुआ गतिमान है।

व्यंग्यकार का एक चरित्र अवश्य होना चाहिए क्योंकि चरित्रहीन साहित्य बाजारू बनकर रह जाता है। पश्चिम की चरित्रगत मान्यताएं पूर्व से भिन्न हैं और पूर्व अपनी परम्पराओं और प्रतीकों के नाम पर एक अलग विशेषण से चरित्र को देखता है। वस्तुतः मान्यताएं भी एक दिन मे नही बन जाती। वे समय के साथ तैरती रहती हैं और धीरे-धीरे लहरों की तरह तट पर एकत्र होती हैं। सम्भवतः वही पत्थर बनकर समन्दर के प्रवाह को अवरुद्ध भी करती है।

व्यंग्य के लिए हास्य भी एक माध्यम है किन्तु यह हास्य सतही ह्रास न हो, इतना ध्यान रहे। जब व्यंग्य कही गहराई को छूकर हृत्तन्त्री झंकृत कर देता है वही यह अभिव्यक्ति की सफल विधा बन पाता है।

हिन्दी व्यंग्य

□ कन्हैयालाल 'नन्दन'

कुछ परम्परा-सी बन गयी है व्यंग्य को हास्य से जोड़कर देखने की, इन परम्परावादियों के लिए काका हाथरसी भी 'हास्य-व्यंग्य' के रचनाकार हैं और शरद जोशी भी। हास्य और व्यंग्य का शास्त्रीय विवेचन करना यहा मेरा अभीष्ट नही है और न ही आवश्यक, लेकिन अब इस सीमारेखा को समझे बिना सही व्यग्य के समझने में अनर्थ की गुंजाइश भी बहुत हो गयी है। ऐसा होता है कि व्यंग्य की खराद पर चढी हुई किसी स्थिति का अंतर्विरोध अनायास हास्य पैदा कर देता है, लेकिन व्यंग्य हास्य से बहुत आगे की चीज है। हास्य विकृति का रस लेकर वर्णन करता है, विकृति के विरोध में पैदा होने वाली तीव्र बौद्धिक प्रतिक्रिया व्यंग्य के अंतर्गत आती है। हास्य शब्द-कौतुक से भी पैदा हो जाता है, मसखरेपन से भी उत्पन्न किया जाता है, लेकिन व्यंग्य के पीछे विचार की एक गहरी सरणि होती है, जो हंसी भी पैदा कर लेती है, लेकिन उस हसी के बाद उभरती है कचोट, तिलमिलाहट, जो सोचने को मजबूर करती है। व्यंग्यकार को सावधान वही रहना पड़ता है, जहां एक हल्की-सी फॅंस होती है कि जिसके इस पार मात्र परिहास का उथला जल होता है और उस पार होती है विकृति के विरोध में आवाज बुलद करने की ताकत। इस फॅंस को पहचानना सफल व्यंग्य-लेखन के लिए बहुत जरूरी होता है।

असल में व्यंग्य परिहासपूर्ण हल्की मन:स्थिति मे लिखा ही नही जा सकता जब तक कि रचनाकार का विसंगतियो, असामंजस्य, पाखड, भ्रष्टाचार के प्रति वितृष्ण भाव उसे मानसिक रूप से भीतर-ही-भीतर ऐंठने नही लगेगा, व्यग्य के लिए अनिवार्य आक्रोश की उत्पत्ति नही हो सकती। लेकिन व्यंग्य आक्रोश का उबलता हुआ तूफान नही है, पीड़ा और आक्रोश का संयमपूर्ण सृजन है—हा, संयमपूर्ण सृजन। जहा आदमी आक्रोश में पागल नहीं हो जाता (पागल हो जाना जितना ही आसान है,

अपने को पागल न होने देना उतना ही कठिन), वह अपने आक्रोश को पिघले हुए तांबे के रूप में तपाकर रचनात्मक सांचे मे ढालता है, ताकि विकृति चौराहे पर नंगी खड़ी की जा सके और पाठक उसकी गलाजत को पहचान सके। हिन्दी के व्यंग्यकारों की सफल कहानियां इसी सयम की कहानिया हैं, जिनका स्वर मात्र अपने आस-पास के समाज की विडंबनाओ, उसकी कमजोरियों पर हंसकर निकल जाने का नही है। इसी अर्थ में हिन्दी का आज का व्यंग्य मार्क ट्वेन के व्यग्य मे सर्वथा भिन्न है।

आप कही यह न समझने लगें कि व्यंग्य सुधारवाद का ही एक अग है। व्यग्य का स्वर यदि सुधारवादी हो गया, तो व्यग्य भोथरा हुए बिना नही रह सकता। व्यंग्यकार का काम समाज-सुधार का डंका बजाना नहीं है, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में फैली सड़ांध को सुधी पाठक के सामने पेश कर देना है, ताकि वह अपने मन में विकृतियों के प्रति उभरी हुई विरोध भावना को सही अंश में पहचान सके और विकृतियों के सामने खडे होने का मानसिक साहस पा सके। असल में स्थिति आज ऐसी हो गयी है कि कोई भी ईमानदार आदमी आहत हुए बिना जी नही सकता। और जब वह आहत होता है तो उसकी सदाशयी भावनाए आक्रोश का रूप ले लेती हैं। इसी आक्रोश की संयमपूर्ण अभिव्यक्ति जब आपके सामने होती है तो आपका ध्यान उस स्थिति के बेहूदेपन की ओर जाता है और आप जागरूक हो जाते है। सोचने लगते हैं कि कही आप भी उस बेहूदेपन का एक हिस्सा होकर तो नही जी रहे ! यह हलचल पैदा कर देना व्यंग्यकार का काम होता है। बाकी तो सुधरने वाले पर निर्भर करता है।

ऐसा नही कि आहत होने और उसे लेखन में उतारने की यह प्रक्रिया व्यंग्य तक ही सीमित होती है। आहत हुए बिना कोई रचनाकार कुछ भी नही लिख पाता (माफ कीजिएगा, इस आहत होने का अर्थ 'वियोगी होगा पहला कवि' वाले आहत होने से बिलकुल अलग है)। लेकिन व्यग्यकार अपनी मर्मान्तिक पीड़ा को सहज सीधे ढग से नही, एक ऐसे कोण से पेश करता है, जहां उसके प्रभाव की डिग्री की मार तेज हो जाती है। यह तेजी इस बात पर निर्भर करती है कि कोई लेखक अपने युग के असामंजस्य, विसंगति-विकार को कितनी गहराई से देखने की क्षमता रखता है, और

उस विकार की संपूर्ण परिवेश में क्या महत्ता है। कुछ व्यंग्यकार विसंगतियों की इस तलाश में स्थिति के वायवी आवरण मे उलझकर रह जाते हैं—बात के लहजे या व्यवहार या ऊपरी बनावट की विसंगति में। लेकिन व्यक्ति या समाज की अंदर की गहराइयों में उतरकर विसंगति को ढूंढना एक बात होती है, और उसे समसामयिक परिवेश के साथ देखकर उसे अर्थ देना और बात होती है। परिवेश के साथ जोड़कर ही देखने मे बात का किसी स्थिति या संगत या विसंगत होना निर्भर करता है। परम्परा से हर व्यक्ति या समाज के अपने अनुपात होते हैं। जब हर चीज उसी अनुपात मे होती है तो हर चीज संगत लगती है। उस अनुपात में गडबडी हुई नही कि विसंगति का जन्म हुआ। एक स्थिति, एक परिवेश मे, एक समय मे संगत लग सकती है, दूसरे परिवेश मे, दूसरे समय में विसंगत। इसीलिए व्यंग्यकार का काम है कि वह समसामयिक परिवेश के साथ विसंगति को परख कर उसे अर्थ देने की कोशिश करे, ताकि पाठक का जीवन से सीधा साक्षात्कार हो सके। सच्चा व्यंग्य जीवन से सीधा साक्षात्कार होता है, जीवन की सच्ची समीक्षा होती है। वह जीवन की विकृत स्थितियों को इसलिए उजागर नही करता कि उन स्थितियों से बचकर निकल जाने का रास्ता खोजा जा सके, बल्कि उनसे टकराया जा सके। विसंगतियों से टकराने का साहस पैदा करना सफल व्यंग्य का काम है। यह मनुष्य को और भी अच्छा मनुष्य बनाने की एक प्रक्रिया है।

एक बड़ी गलत धारणा भी देखने-सुनने में आती है कि व्यंग्यकार निर्मम, कठोर या सहानुभूतिशून्य व्यक्ति होता है।

का यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

इससे पहले भी मैंने यह कहा है कि आज किसी भी रचना-विधा में व्यंग्य के बिना तराश नहीं आ पाती। लेकिन शायद इसका एक जबर्दस्त कारण यह है कि आज देश की जो स्थिति है, उसका सही ढंग से अगर बयान किया जा सकता है, तो वह व्यंग्य के माध्यम से ही हो सकता है। सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, वैयक्तिक—किसी भी धरातल पर आज अपने देश में ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी विद्रूपताओं का बाजार गर्म है, अंतर्विरोधों का बोल-बाला है। ऐसे में व्यंग्य ही है, जो इन सारे अंतर्विरोधों की भरपूर किलेबंदी को तोड़कर आपके सामने उसकी पूरी तस्वीर उघाड़ सकता है। व्यंग्य विसंगतियों का जीवंत दस्तावेज होता है। मैं तो यह मानता हूं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस देश में आंतरिक रूप से क्या-क्या घटित होता रहा है—व्यक्ति के अपने निजी व्यवहार से लेकर देश के बड़े-से-बड़े समूह की आंतरिक राजनीति तक—अगर इसे सच्चे रूप में जानना है तो आपको और कुछ नहीं, व्यंग्य साहित्य पर निगाह डाल लेना काफी होगा। इस दृष्टि से हिन्दी का व्यंग्य साहित्य समृद्ध हो चुका है। यद्यपि इसके लिए बड़े गंभीर योजनाबद्ध रूप से व्यंग्य-कारों को कार्य करना पड़ा है, यह सहज ढंग से लिखती जायी गयी रचनाओं की स्वत:प्राप्त उपलब्धि नहीं है। बड़ी मुश्किल से चमन में दीदावर पैदा किये गये है। इसके लिए व्यंग्य को मखौल और चुटकुलेबाजी की घेरेबंदी से घसीटकर, बाहर लाने में बड़ी जद्दोजहद करनी पड़ी है। इस जद्दोजहद में मैं अपने कुछ व्यंग्यकार मित्रों का प्रत्यक्ष साक्षी रहा हूं। स्थितियों और विषयों के चुनाव से लेकर उनकी रचना-प्रक्रिया तक को मैंने निकट से देखा-परखा है। व्यंग्य को साहित्यिक छुआछूत की संक्रामकता से निकालकर उसे प्रतिष्ठा दिलाने के लिए किये जा रहे प्रयासों के विरोधी स्वर भी मैं सुनता रहा हूं। व्यंग्य को लेकर हुए बहस-मुबाहसों में हिस्सा लेता रहा हूं और दृढ़ आस्था के साथ उस दिन का इंतजार करता रहा हूं, जब व्यंग्य को दरगुजर कर जाना रचनात्मक साहित्य के सशक्ततम पहलू से आंख मूंद लेने का पर्याय माना जाने लगा है। यह खुशी की बात है कि अब श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' को पुरस्कार मिलता है, शरद

जोशी की गद्य-रचनाओं को लोग घंटों बैठकर लोकप्रिय कवियों की कविताओं के मुकाबले में ज्यादा सुनना पसंद करते हैं और हरि शंकर परसाई को साहित्य अकादमी का सम्मानित सदस्य मनोनीत किया जाता है। मात्र व्यंग्यकार बनकर भी आज प्रथम श्रेणी का साहित्यकार बनना संभव हो गया है।

हिन्दी में व्यंग्य की स्थिति

◻ डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद

हिन्दी में व्यंग्य की स्थिति संतोषजनक नही कही जा सकती। हमारे यहा व्यग्य अभी भी व्यक्ति से बहुत ऊपर नही उठ पाया है। हमारे लेखक अभी भी वैयक्तिक विचित्रता या विषम सामाजिक स्थितियों (Odd Social Situation) पर ही चोट कर रहे हैं। हमारे यहां व्यंग्य-फिल्मों की भी परिपाटी नही चल पायी है।

पश्चिम मे स्वीफ्ट से लेकर शॉ और जार्ज आरवेल तक व्यंग्य की एक शक्तिशाली परंपरा बन गयी है। वहां प्रत्येक व्यग्यकार अपने लिये एक निश्चित सामाजिक क्षेत्र चुन लेता है। हमारे यहां व्यंग्य का जो सबसे निचला स्तर 'कैरिकेचर' है उससे व्यंग्यकार ऊपर नही उठ पाये है। यही वजह है कि व्यंग्य के कुछ टाइप तो हम बना लेते हैं लेकिन व्यग्य सामाजिक परिवर्तन का माध्यम नहीं बन पाता। तमिल के 'आनंद विकटन्' की सामग्रियां अथवा 'शंकसे वीकली' के कार्टून इसके उदाहरण हैं।

पश्चिम में साहित्य के अलावा और विधाओ में, जैसे फिल्म, कार्टून का मिक्स ट्रिप्स आदि में भी व्यंग्य की अनेक विविधताओं का प्रसार हुआ है और व्यग्य कला के चरम स्तर पर प्रतिष्ठित हो गया है। स्वीफ्ट में ह्रासोन्मुखी समाज के मानवीय मूल्यों और भावों को लेकर करारा व्यग्य किया गया है। उसी तरह बर्नार्ड शॉ के व्यंग्य नाटकों में युद्ध की विभीषिका और व्यवसायी सैनिकों की मूर्खतापूर्ण विवशता पर चुभता हुआ व्यंग्य है। चार्ली चैपलिन की प्रत्येक फिल्म बीसवीं सदी की यूरोपीय सभ्यता के खिलाफ जिहाद है। 'माडर्न टाइम्स' और 'सिटी लाइट' यांत्रिक औद्योगिक सभ्यता पर, 'द ग्रेट डिक्टेटर' अधिनायकवाद पर 'मोशिये वर्दू' पूंजीवाद की धन लिप्सा और अनैतिकता पर करारा व्यंग्य है। अमेरिका के 'लिल अबनर' (Lil Abner), इंगलैण्ड के 'पंच' (Punch) आदि के . . .

चित, न्यूयार्क जैसे शहर में सामाजिक संबंध किस कदर टूट गये हैं, और वहां तनहाई किस तरह बढ़ती जा रही है, इस पर व्यंग्य किये जाने के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जार्ज आरवेल की किताबें 'एनिमल फार्म' और '१९८४' व्यग्य के कालजयी साहित्य के दर्जे पर पहुंच गये है। मैं जब यह कहता हूं कि हिन्दी मे व्यग्य की स्थिति सतोषजनक नहीं है तो ऐसा पश्चिम को ध्यान में रखकर ही कह रहा हूं। हमारे यहां अभी व्यंग्य की शुरुआत ही हुई है। हाल मे प्रकाशित कुछ पुस्तकों से कुछ आशा बंधती है। 'चूहे की मौत' (बदी उज्जमां), 'एक उलूक कथा' (श्याम सुन्दर घोष), 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल) और रेणु की कहानियों और उपन्यासों में बिखरे हुए व्यंग्य-स्थलों से कुछ संतोष होता है।

व्यग्य मे प्रतिबद्धता से कहीं अधिक दृष्टिकोण की चर्चा होनी चाहिए। प्रतिबद्धता तो बदलाव के प्रति होती है। व्यंग्यकार बिना किसी राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारधारा के सामयिक स्थितियों और घटनाओं का विश्लेषण करता है, या कर सकता है। साम्यवादी देश के व्यंग्यकार पूंजीवादी देशों की स्थितियों पर व्यंग्य करते हैं और पूंजीवाद देश के व्यग्यकार साम्यवादी देशों को लेकर व्यंग्य रचते है। ऐसे व्यंग्यकारों के पास एक बना-बनाया सैद्धांतिक सांचा होता है। व्यंग्यकार की दृष्टि से इनका काम सरल तो होता है पर विचारधाराओं की संकीर्णताएं उनकी कृतियों को कला के स्तर पर नही पहुंचने देती। यदि व्यंग्यकार के पास नये समाज की परिकल्पना या खाका है तो प्रतिबद्धता का सवाल अपने आप हल हो जाता है।

व्यंग्यकार यथास्थिति के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करता है। ऐसा कुछ लोग समाज में सुधार लाने के लिए, कुछ मूल्य परिवर्तन के लिए और कुछ सात्यिक परिवर्तन के लिए करते हैं। प्रतिबद्धता के प्रति लगाव रखते हुए भी जब व्यक्ति के निजी स्वार्थों की पूर्ति नहीं होती तो वह विक्षुब्धों (Dessident) का एक छोटा-सा रोल अपना लेता है। लेकिन जब कोई मौजूदा अवस्था के खिलाफ किसी परिकल्पना या सिद्धांत के आधार पर लड़ता है तो वह डिसिडेन्ट न रहकर डिसेन्टर (dissenter) बन जाता है। डिसेन्टर को जब समूह या समुदाय का समर्थन मिल जाता है तब वह क्रांति कर पाने में

समर्थ होता है। लेकिन ऐसी क्रांति कभी-कभी राष्ट्रीय सीमा तक ही सीमित रहती है। इससे आगे का लक्ष्य है क्रांति एक ही राष्ट्र या समाज में सीमित न होकर सभी राष्ट्रों और समाजों में मूर्त हो। ऐसी क्रांति स्थायी और अविभाज्य होती है। क्रांति के बाद भी यदि कहीं व्यक्ति या समूह के स्तर या राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्याय और गैर बराबरी हो तो व्यक्ति या समूह को यह अधिकार अपने आप ले लेना चाहिए कि वह व्यवस्था से असहयोग करे। यह सिविल नाफरमानी के द्वारा ही सम्भव है। ये सभी स्थितिया परिवर्तनकारी कार्यक्रम के विभिन्न अग और स्तर हैं और इनमें गुणात्मक अंतर करना हमारा सामाजिक दायित्व है। व्यंग्यकार अपनी अनुभूत सामर्थ्य के आधार पर इनमे से किसी स्थिति से किसी स्तर पर जुड सकता है। यह उसकी निजी क्षमता पर निर्भर है।

बदरपुर की रेत और हिन्दी व्यंग्य

□ शान्तिदेव

सोचता हूं बातचीत कहां से शुरू करूं ? शुरुआत तो कहीं से भी की जा सकती है। मसलन आप का यह वाक्य कि 'व्यंग्य भ्रष्ट हो रहा है' बातचीत शुरू करने के लिए बुरा नहीं। मगर यह भ्रष्ट शब्द कई तरह के बुनियादी सवाल सामने लाकर खड़े कर देता है जिनका ईमानदारी के साथ जवाब देना बहुत ही खतरनाक है, गैर-ईमानदारी के साथ जवाब देना और भी खतरनाक है। सबसे पहले तो हमें यह इस बात के लिए मजबूर कर देता है कि हम यह मानकर चलें कि हिन्दी में व्यंग्य नाम की कोई चीज है। फिर यह कि पहले वह पवित्र था, अब भ्रष्ट हो रहा है ? और वे कौन लोग हैं जो पवित्र को भ्रष्ट कर रहे हैं या भ्रष्ट करने पर तुले हुए हैं। ये हिन्दी व्यंग्यकार हैं या हिन्दी सम्पादक ? या इनके पीछे खड़ा व्यापारी वर्ग; जो धर्म, लोकतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद, साहित्य और हिन्दी व्यग्य को अपनी निजी मंडी में आलुओं के साथ-साथ आलू समझकर बेच रहा है। इनके लिए बदरपुर की रेत और साहित्य मे कोई अन्तर नही।

हिन्दी व्यग्य के स्तर को देखते हुए यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि ये व्यग्य व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं की मांग की पूर्ति को सामने रख कर लिखे गए है। यही वजह है कि ये पककर बाहर नहीं निकले। कच्चा माल ही पक्का माल कहकर मण्डी में फेंक दिया गया है, और हिन्दी का पाठक वर्ग—अबुद्धिजीवी से लेकर साहित्यिक बुद्धिजीवी तक—जो पक्के माल से परिचित नही था, वह इनके कच्चे माल को ही पक्का माल समझकर व्यग्यकारों की व्यावसायिक रुचि को बढावा देता रहा है। हिन्दी व्यंग्यकार, हिन्दी पाठक और हिन्दी सम्पादक की सुरुचि व्यावसायिकता से किसी भी प्रकार अलग नहीं रखी जा सकती। मगर हिन्दी के श्रमजीवी पत्रकारों पर यह बात लागू नही होती। उनकी पीठ के पीछे कोई

भी व्यापारी सेठ नही। हां, व्यापारी रुचि जरूर हो सकती है। इसके बारे में आप ही ज्यादा बेहतर बता सकते हैं।

बहरहाल, आप इन सवालों का जवाब कुछ भी सोचकर बैठे हों, मगर मैं पवित्र और भ्रष्ट के इस आध्यात्मिक झगड़े में पड़े बिना यह साफ-साफ कह देना चाहता हूं कि हिन्दी व्यंग्यकार अपने प्रति ईमानदार नही। अगर आप इनकी ईमानदारी के बारे मे जानना ही चाहते है तो इन्ही से पूछ लीजिए कि जनाव, आप व्यग्य क्यो लिखते है? ये सभी के सभी बिना सोचे समझे कुछ इस तरह के जवाब देंगे, "समाज के भीतर विसगति (अथवा विकृति) बढ रही है। आज का युग तो व्यंग्य का युग है। व्यंग्य के बिना समाज का सुधार नही हो सकता। विसंगति दूर करने का सबसे अच्छा हथियार व्यंग्य है।" अगर परसाई हुए तो एकदम विसंगति का नमूना पेश करते हुए कहेगे, "देखो, फरहाद अपनी प्रेमिका के पिता को डंडी कर रहा है, कैसी भयंकर विसंगति है?" अगर इसी बात को, या इनके 'पांच लोक कथाएं' व्यग्य-लेख को अंग्रेजी में अनुवाद करके परसाई जी से पूछा जाये कि अब बताओ, विसंगति कहीं नजर आती है। तो हो सकता है विसगति न दीखने पर यह कह उठें कि 'मेरे व्यंग्य में भाषा की विसंगति थी, वह अंग्रेजी का चोला पहन लेने के कारण दिखाई देनी बंद हो गयी है।' हिन्दी व्यंग्यकार ऐसी हालत मे भी यह जानने और समझने की कोशिश नही करेगा कि भाषा की विसंगति में और मनुष्य के भीतर या बाहर की विसगति में उतना ही अन्तर है, जितना बदरपुर की रेत मे और साहित्य मे अन्तर है।

व्यंग्य कोई कविता नही जिसके नमूने पेश किए जा सकें। मगर अमरीका प्रवासी सुदर्शन मजीठिया के व्यग्य लेखों मे से एक नमूना आपके सामने जरूर रखूंगा। यह छोटा-सा नमूना है, कविता में व्यंग्य किया गया है। मजीठिया की 'इण्डिकेट बनाम सिण्डिकेट' की भूमिका के अनुसार इसे हास्य का नमूना समझना चाहिए। हिन्दी-उर्दू के कवियों की स्टेजी शायरी या कविता आपने जरूर सुनी होगी। वे हिन्दी में अंग्रेजी के शब्द मिलाकर हास्य पैदा करते हैं। मजीठिया जी ने भी अपने हास्य-व्यंग्य लेखों मे यही करतब दिखाया है। कविता का नमूना इस तरह है—

टैक्स्ट को गाइड ने मारा कामयाबी झट हुई।
वस्त्र नैरोकट हुए तालीम नैरोकट हुई॥

देखिए जनाब, गाइड के कारण तो तालीम नैरोकट हो गयी है, और हिन्दी में अंग्रेजी शब्द मिलाने से मजीठिया जी का हास्य और व्यंग्य ही नैरोकट हो गया है। यही नही, उनके सारे गद्य-लेख ही नैरोकट हैं।

इतना तो आप जानते हैं कि 'हास्य' बाहरी शारीरिक विकृति को लेकर चलता है और व्यंग्य भीतर और बाहर की विसंगति और विकृति को। मजीठिया के इस नमूने में भाषा की विकृति तो है। और कोई विकृति या विसंगति कही हो तो हिन्दी का लोकल श्रोता ही बता सकता है जिसे मैं श्रद्धावश लोकल-जीनियस कहता हूं। इतना याद रखें कि मजीठिया के व्यंग्य लेखों को पढकर आप मेरे से सहमत हुए बिना नही रहेंगे, मगर इण्डिकेट बनाम सिण्डिकेट की भूमिका पढकर शायद मुझे लोकल-जीनियस ही मानने लगेंगे।

शायद आप यह मानने को तैयार नही होंगे कि हिन्दी व्यग्यकार आज के हिन्दोस्तानी मन की विसंगतियों को देखने में असमर्थ है। मैं भी तैयार नहीं हूं। मगर विसंगति को देख भर लेने से या पकड़ लेने से कुछ बनता-बिगड़ता नही जब तक विसंगति को विरोध में खड़ा न किया जा सके। और यह विरोध भी उसी समय व्यग्य बनता है जब व्यंग्यकार का पात्र या स्वय व्यग्यकार सूंघनेवाली चीज को हलक मे उड़ेलने लगता है और हलक में उड़ेलने वाली चीज को सूंघने लगता है।

दरअसल, बात यहां दूसरी है। हिन्दी व्यग्यकार सूंघनेवाली चीज को हलक में उंड़ेल भी सकता है। मगर उसे उड़ेलने का ढंग नही आता। किस ढंग से क्या बात कहनी है? किस नुक्ते पर पहुचकर, किस ढग से चोट करनी है कि छुरी कही दिखाई न दे पर भीतर ही चीरती हुई महसूस हो। यह तभी होता है जब किसी को तू न कह कर तू कहा जाए या गधा न कहकर गधा कहा जाए। हिन्दी व्यग्यकार इस ढंग को पकड़ने में असमर्थ रहा है।

हिन्दी आलोचक मानते हैं कि शरद जोशी एक अच्छा व्यंग्यकार है। उसके एक लेख का नमूना लीजिए। लेख है, 'पुराने पेड़ से बातें'। इसमें

पुराना पेड़ हिन्दी का 'हेड ऑफ द डिपार्टमेंट' है जिसकी जड़ के नीचे पुरानी थीसिस दबी पड़ी है। इसी वजह से वह प्रगतिवाद को हिन्दी की नवीनतम प्रवृत्ति बताता है। जब पुरानी थीसिसें निकालकर नयी थीसिसें रख दी जाती हैं तो नये साहित्य को पचा न सकने के कारण उखड़कर गिर जाता है यानी हेड आफ द डिपार्टमेंट मर जाता है। बस इस व्यंग्य में इतना-सा किस्सा है मगर जोशी जी बार-बार एक ही परिभाषा और प्रश्न को दुहराने में इतने व्यस्त हो जाते हैं कि व्यंग्य देखते-देखते नौ-दो ग्यारह हो जाता है। नये साहित्य को न पचा सकने के कारण 'हेड आफ द डिपार्टमेंट' तो मर जाता है या नहीं मरता है (हमें क्या मालूम जोशी जी ही जानते होंगे) मगर भगवान का लाख-लाख शुक्र है, जिसकी कृपा से इस लेख को पढ़ने के बाद भी हम आज जिंदा हैं।

परसाई जी भी हमारे साथ ऐसा ही सलूक करते हैं। मैं उनका भी एक उद्धरण आपके सामने रखना चाहूंगा। यह मत समझिये कि मैं अपनी बात मनवाने के लिए कोई घटिया उद्धरण चुनकर आपके सामने रखूंगा। यह उद्धरण 'ठिठुरता हुआ गणतन्त्र' के पहले ही व्यंग्य लेख से, और पहले ही पैराग्राफ से, हाज़िर कर रहा हूं। लीजिए, गौर फरमाइए—

"चार बार मैं गणतन्त्र दिवस का जलसा दिल्ली में देख चुका हूं। पांचवीं बार देखने का साहस नहीं। आख़िर यह क्या बात है कि हर बार जब मैं गणतन्त्र समारोह देखता, तब मौसम बड़ा क्रूर रहता। २६ जनवरी के पहले ऊपर बर्फ पड़ जाती है। शीत लहर आती है, बादल छा जाते हैं, बूदा-बांदी होती है और सूर्य छिप जाता है। जैसे दिल्ली की अपनी अर्थ-नीति नहीं है, वैसे ही अपना मौसम भी नहीं है। अर्थनीति जैसे डालर, पौंड, रुपया अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष या भारत सहायता क्लब से तय होती है, वैसे ही दिल्ली का मौसम कश्मीर, सिक्किम और राजस्थान आदि तय करते हैं।"

जनाब ! मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहूंगा, अगर कुछ कहूंगा तो परसाई जी के प्रेमियों को बुरा लगेगा। अब आप ही बताएं कि परसाई जी (उपरोक्त पंक्तियों में) व्यंग्य कर रहे हैं या व्यंग्य पर उपकार कर रहे हैं। 'अर्थनीति जैसे डालर, पौंड, रुपया, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा

भारत सहायता क्लब से तय होती है,' मैं इस बेतुकेपन के बारे में कुछ नहीं कहूंगा, अगर बेतुकापन व्यंग्य बन जाए, उसकी धार अन्दर-ही-अन्दर काटती जाए तो मैं हजार बार दाद देना चाहूंगा।

यह बात नहीं, कि इन व्यंग्यकारों के पास व्यंग्य नहीं, या व्यंग्य की नजर नहीं। व्यंग्य की सूझ तो कहीं-कहीं नजर आ जाती है, मगर इनके पास व्यंग्यात्मक शैली नहीं। यही उद्धरण नहीं आप किसी व्यंग्य-लेख के किसी अंश को ले लीजिए। ये व्यंग्यकार एक-एक शब्द को, एक-एक वाक्य को व्यंग्य में ढाल देना चाहते हैं। एक ही बात को, जिसे ये व्यंग्य समझते हैं, बार-बार दुहराते हैं। उसके शब्दों को रगड़ते हैं। इसी उद्धरण में परसाई ने मौसम शब्द को कई बार घिसाया है। यह घिस्सा शैली किसी देव-स्तोत्र में भले ही देवसिद्धि का अचूक मन्त्र हो, मगर व्यंग्य में यह व्यंग्यसिद्धि का मन्त्र बिल्कुल नहीं। बार-बार लैला-लैला कहने से मजनू को लैला तो मिल सकती है, मगर व्यंग्य नहीं मिल सकता।

अगर ये लोग व्यंग्य को विशेषण के द्वारा 'कनसीव' करें तो बताएं, ये व्यंग्य वस्तु के व्यंग्य-विरोध को ग्रहण करने में कहां तक सफल हो सकते हैं। यही नहीं, इनके यहां, व्यंग्य तो शब्दों के अफ्रीकी जंगल में खो गया है। आप ढूंढ लेने का दावा करें तो अलग बात है। इधर का एक-आध प्रगतिशील आलोचक परसाई जी के व्यंग्य को ढूंढ लेने का दावा कई साहित्यकारों के मेले में कर चुका है। आप पूछकर बताएं यह अफ़वाह है या सच है।

मैं शब्दों के जंगल की बात कह रहा हूं। भाषा का एक मुहावरा या स्वभाव होता है। यदि किसी भाषा में उसके स्वभाव के उलट किसी दूसरी भाषा में (वह चाहे उस भाषा की मां हो, दादी या सौत हो) भारी-भरकम शब्द भर दिए जाएं तो उस भाषा का अपना कुदरती रूप ख़त्म हो जाता है। हिन्दी कहानी हिन्दी को एक मुहावरा देने में जरूर सफल हो गयी है पर हिन्दी व्यंग्य अभी तक अधकचरी भाषा का प्रयोग कर रहा है। यह भी कमाल की बात है कि इनका व्यंग्य इन्हीं की भारी-भरकम भाषा के मलबे के नीचे दबकर मर चुका है और इन्हें खबर तक नहीं।

यह भी एक वजह है कि हिन्दी व्यंग्य आगे की बजाय पीछे की ओर

जा रहा है। परसाई ने व्यंग्य यहां से शुरू किया था, वे खुद आज उसे आगे ले जाने की बजाय पीछे की ओर धकेल रहे हैं। उनके बाद आने वाले शरद जोशी, नरेन्द्र कोहली और मजीठिया के बारे में क्या कहूं। ये मुंह के उलटे दौड़ने में परसाई से भी आगे हैं जबकि हमारे पड़ोसी इस्लामी देश का व्यंग्य 'पितरस' से चलकर मुश्ताक अहमद यूसुफी तक पहुंच गया है और इधर जन-मन-गण का गीत गाने वाले देश का हिन्दी व्यंग्य हवाई जहाज की भाषा में अभी तक 'टेक ऑवर' ही कर रहा है।

ऐसी हालत पर अगर मैं यह कहूं कि बदरपुर की रेत और हिन्दी व्यंग्य में कुछ भी अन्तर नहीं तो आप को नाराज नहीं होना चाहिए।

व्यंग्य साहित्य : आज के संदर्भ में

□ श्रीकांत चौधरी

जब सृष्टि पर दो मनुष्य हो गए होंगे तभी से 'व्यवस्था' का जन्म हुआ होगा और इस व्यवस्था के प्रतिकूल होने पर व्यंग्य की उत्पत्ति।

२०वीं सदी के उत्तरार्द्ध से व्यवस्था में पूर्वापेक्षा कई गुना तेजी से परिवर्तन हुआ है और जो कुछ भ्रष्ट, अनैतिक, असगत, बीभत्स, रुग्ण, जड और जर्जर है वह व्यवस्था का पर्याय बन गया है। व्यक्ति हर क्षण चरमोत्कर्ष पर पहुचा लगता है, यों अंत अभी शेष है।

प्रत्येक व्यक्ति व्यवस्था से मानसिक या शारीरिक रूप में प्रभावित होता है, लेकिन एक साहित्यकार इसे अत्यंत गहराई से भोगता है।

यहां कहा जा सकता है कि विभिन्न मानसिक स्तर होते हुए भी साहित्यकारों में व्यंग्यकार अधिक तीक्ष्ण और सूक्ष्म दृष्टि से इसे देखता और परखता है। और जो व्यंग्यकार जितना अधिक मनोविज्ञानी और तीक्ष्ण बुद्धि का होगा, वह उतने ही सशक्त ढंग से इस व्यवस्था की चीर-फाड कर सकता है। व्यष्टि से समष्टि तक के सभी मानवीय क्रियाकलापों के प्रति, बौद्धिक विद्रोह ही व्यंग्य है। बुद्धि की पैनी और चुटीली प्रतिक्रिया ही व्यंग्य का आधार है और इस सदर्भ मे यह एक सार्थक, स्वस्थ, बौद्धिक विद्रोह है।

व्यक्ति और समाज के अंदर कथनी और करनी का जितना अधिक अतर होगा, व्यंग्य उतना ही स्वाभाविक, प्रचुर और तीक्ष्ण होगा। व्यंग्य व्यक्तिगत कुंठा या सन्त्रास का परिणाम कभी नही हो सकता। गीत या कविता में यह सभव है,पर व्यग्य में निजत्व आवश्यक नही है। इसका स्वस्थ और उन्मुक्त होना अपेक्षित है। एक-दो दशक पहले तक समीक्षकों और अन्य प्रबुद्ध लेखकों ने यह धारणा बना ली थी और इसकी स्थापना के प्रयास भी किए कि हास्य और व्यंग्य में कोई खास भेद नही है। अधिकांश पाठक वर्ग आज भी हास्य और व्यंग्य के प्रति सचेत नही है। इसका एक

यह कारण भी है कि पाठक के न तो संस्कार ऐसे हैं और न ही २-३ दशक पूर्व तक व्यग्य-लेखन इतने बड़े पैमाने पर होता था। रीतिकाल के बाद भी हास्य का प्रयोग ही सर्वाधिक हुआ। काव्य भी अधिकांशतः हास्य प्रधान रहा, गद्य में *व्यग्य लेखन बहुत कम था। 'व्यंग्य'* का प्रयोग हुआ भी है तो हास्य-व्यग्य के मिश्रित रूप में। नये पुराने समीक्षकों ने प्रारंभ से ही जाने-अनजाने व्यंग्य को गंभीर दृष्टि से नहीं परखा, उनकी दृष्टि हास्यात्मक ही रही है और हास्य का साहित्य में प्रयोग मनोरंजन के लिए ही हुआ। इसी खाने मे व्यग्य को भी फिट कर दिया गया। लापरवाही के अतिरिक्त व्यग्य का समझने और उसके सिद्धात स्थापित करने में अधिकांश समीक्षकों की अक्षमता एक सबल कारण रही है। यद्यपि व्यंग्य को शायद *इतने शीघ्र (?) स्वतंत्र विधा के रूप में मान्य नहीं किया जा सकता,* तो व्यंग्य एक साहित्यिक तत्व तो है ही जो रीतिकाल के शृंगार रस की तरह आधुनिक साहित्य का प्रधान तत्व है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में सन् १९५० के लगभग जो व्यग्य लिखे गए उनमें से अधिकांश विशेष शैली, विषय-वर्णन के कारण चालू बिंबों और प्रतीकों के कारण, एकरस, सतही थे और उनमें तीखेपन का अभाव था। साहित्यकारों की प्रवृत्ति गद्य और पद्य में हास्य रस के समावेश की ओर ही अधिक रही। लेकिन सन् ५० *के बाद (यह कोई निश्चित विभाजन नही है)* व्यंग्य साहित्य ने अपना मौलिक, प्रखर और विविध रूप मुखर करने की चेष्टा की। व्यवस्था और शक्ति के निरंतर पतन तथा राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों में निम्नस्तरीय, आडबरपूर्ण परिवर्तनों ने व्यंग्यकारों के दायरे और दायित्व को बृहत् कर दिया। शैली में भी नये-नये प्रयोग हुए। भाषा का भी सरलीकरण हुआ।

नयी कहानी की तरह *नया-व्यंग्य* भी उदित हुआ। यह व्यग्य का वह स्वरूप है जो जनसाधारण की क्षुद्र समस्याओं से लेकर अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को भी स्पर्श करता है। व्यंग्य स्वयं तक भी सीमित हो सकता है।

व्यंग्य का उद्देश्य मनोरंजन कभी नहीं होता, वरन् व्यक्तिगत या समाजगत विसंगतियों, कुरूपताओं और दोषों की निर्मम चिकित्सा और

स्वस्थ सचेतना का निर्माण करना होता है। जिंदगी के किसी भी अस्वाभाविक पहलू पर व्यंग्य हो सकता है। कहानी या कविता के साथ भी यह बात लागू होगी तथा उनका सृजन व्यक्ति के श्रेष्ठ उच्चमानवीय पहलू को लेकर भी हो सकता है, लेकिन व्यंग्य में यह कोई अच्छा आधार नहीं बन सकता। व्यंग्य मे हृदय पक्ष नही होता, अर्थात् भावुकता या कपोल-कल्पना व्यंग्य का दुर्गुण है। व्यंग्य में बुद्धि पक्ष ही प्रधान होता है। अधिकाधिक वैज्ञानिक दृष्टि व्यंग्य में अनिवार्य है। लेकिन साहित्य की अन्य विधाओं में यह ग्राह्य है, आवश्यक नही।

'व्यंग्य' को यदि कोई तथ्य बहुत व्यापक बनाता है तो वह यह कि साहित्य की किसी भी विधा—कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि में इसका स्वतंत्र उपयोग। व्यंग्यचित्र, व्यंग्य की एक विशिष्ट शैली है। व्यंग्य अमूर्त शैली में प्रायः नहीं हो सकता।

व्यंग्यकार के लिए विषय की सीमा नहीं होती। सत्ता प्रतिष्ठानों की लालफीताशाही, नेताओं की धूर्तता, पाशविकता, देशद्रोहिता और अनैतिकता, चुनावों के हथकंडे, पुलिस का वीभत्स आचरण, आधुनिक प्रेम का सतहीपन, जात-पांत, अंधविश्वास, आम आदमी की तकलीफें, फिल्में, भुखमरी, बेकारी, गरीबी आदि अनगिनत विषयों की चीरफाड़ व्यंग्यकार की लेखनी से होती है। इसके लिए निबंध, लेख, कथा, नाटक, कविता किसी भी विधा को माध्यम चुना जा सकता है। प्रत्येक प्रकार के दोषमुक्त पहलू का सही चित्रण, उस पर प्रहार और व्यक्ति की चेतना को एक झटका देना, व्यंग्य का उद्देश्य है। सार्थक व्यंग्य घायल ही नहीं करता, मरहम लगाने की प्रेरणा भी देता है। समसामयिक घटनाओं के प्रति सर्वाधिक सज्जा और पैनी दृष्टि व्यंग्यकार की ही होती है। भविष्य में इतिहासकार इतिहास की प्रामाणिक जानकारी के लिए तत्कालीन व्यंग्य साहित्य का भी सबल ग्रहण करेगा।

सर्वाधिक चोट व्यंग्यकारों ने राजनीतिज्ञों पर की है, जिसका कारण बैठकखाने से लेकर राष्ट्रपति भवन और व्यक्ति के पैर के तलुवे से लेकर आसमान तक राजनीति के जहर की घुसपैठ है। सबसे बड़े, सर्वव्यापी, दुर्गुण पर व्यंग्यकार का सर्वाधिक प्रहार होना स्वाभाविक ही नहीं, जरूरी

भी है। व्यंग्य समाज के विभिन्न आंतरिक और बाह्य दोषों के विरुद्ध चलने वाली सतत क्रांति है, जिसमें व्यंग्यकार सामान्य जन के प्रति प्रतिबद्ध है। हरिशंकर परसाई के शब्दों में, "जागने वाले का रोना कभी खत्म नहीं होता। व्यग्य-लेखक की गर्दिश भी कभी खत्म नही होगी।"

किसी भी वाद या पार्टी से प्रतिबद्ध होकर व्यग्यकार अपने सृजन में ईमानदार नही हो सकता। एक श्रेष्ठ व्यंग्यकार के लिए यह हितकर भी नही है। सक्रिय, तटस्थ और निरपेक्ष दृष्टि व्यंग्य के लिए आवश्यक है। इस मायने में व्यंग्यकार सर्वाधिक अधुनातन और प्रगतिशील होता है। उसके व्यग्य, गर्म शलाकों पर पड़ने वाले हथौड़े की चोटें हैं, जो पहले तो चिनगारियां पैदा करती हैं और फिर लोहा ठडा होकर एक इच्छित रूपाकार ग्रहण कर लेता है।

सतही, सस्कारग्रसित व्यक्ति के लिए व्यग्यकार एक अजूबा चीज होती है। वह व्यग्यकार को मनोरंजक वस्तु के रूप में देखने का प्रयास करता है, क्योंकि अभी तक वह साहित्य का पठन मनोरंजन और दिमागी अय्याशी के लिए करता है। कुछ दशक पहले तक का हास्यातिरेक से समृद्ध हास्य-व्यंग्य साहित्य मनोरंजन के लिए ही लिखा गया था।

अब स्थिति बदली है और व्यंग्यकार की दृष्टि गभीरता से जीवन के कड़ुवे, कसैले यथार्थ की ओर दौड़ती है। कवि या कथाकारों की तरह ही, पूरी निर्भीकता और तटस्था से वह इनको अभिव्यक्त करता है। यह अयथार्थवादी दृष्टिकोण नही होगा यदि कहा जाए कि आज के समूचे साहित्य में व्यंग्य किसी-न-किसी स्तर पर ध्वनित हो रहा है। कथा साहित्य में यह ध्वनि साफ सुनी और पहचानी जा सकती है।

कविता और कहानी की तरह व्यंग्य में भी नये-नये प्रतीक, बिंब, रूपक, शैली और भाषा के प्रयोग हो रहे है और अन्य विधाओं की अपेक्षा सशक्त साबित हुए हैं। नयी और पुरानी और बिचली पीढ़ी के कवि, कथाकार, उपन्यासकार, लेखक, नाटककार आदि व्यंग्य से प्रभावित हैं, एक अनिवार्य नियति के रूप मे व्यंग्य के तेवर पहचाने और अनुभव किए जा सकते हैं। वर्तमान परिस्थितियों के विस्फोटक, विषैले और आतंकवादी घृणित स्वरूप में, व्यंग्य का उद्गम एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। प्रत्येक

सजग, सच्चा, बुद्धिजीवी इससे अज्ञेय नहीं है। व्यंग्य अब इतना सक्षम और विस्तृत हो चुका है कि गीत, नाटक, कथा आदि की तरह उसके भी कई प्रकार स्थापित किए जा सकते हैं। किंतु इसके लिए पुराने शास्त्रीय आधार सर्वांगीण रूप में ग्राह्य नही हो सकते।

यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि आधुनिक हिंदी साहित्य की इतनी महत्त्वपूर्ण धारा होने के बावजूद और नयी-पुरानी पीढ़ी के स्थापित-चर्चित साहित्यकारों द्वारा, अपनी रचनाओं मे व्यंग्य को प्रमुखता से स्थान देने के बाद भी, उचित सम्मान और महत्त्व देने में व्यंग्य की उपेक्षा, जाने-अनजाने की गयी है। व्यंग्य की साहित्य मे आवश्यकता, महत्ता और अनिवार्यता की उपेक्षा या प्रर्याप्त सम्मान न होने के कई प्रमुख कारण है।

एक आम पाठक आज भी हास्य और व्यंग्य का भेद समझने की क्षमता नहीं रखता, व्यंग्य के मामले में तो वह और भी नौसिखिया है। जहां तक समीक्षको (अधिकांश) का प्रश्न है, वे भी पूर्वसस्कारों से ग्रसित हैं, और व्यंग्य को गभीरतापूर्वक न मानकर, हास्य से मिलाने की गंभीर भूल करते हैं। जो अधिक खोजी प्रवृत्ति के समीक्षक या साहित्यकार हैं, वे व्यंग्य की अपेक्षा व्यंग्यकार की जिंदगी तलाशते है। कुछ सहृदय ऐसे भी होते हैं जो तीखा, चुटीला, आक्रामक व्यंग्य पढ़कर, मोटी चर्बी से उसे सह जाते हैं और अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से कृति के कथ्य-तथ्य की जांच-परख के वजाय, कृतिकार के व्यक्तिगत प्रेम-प्रसंग, कुंठा, संत्रास, विक्षोभ आदि की व्याख्या करने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति व्यंग्य लेखक के लिए या तो उपेक्षणीय होता है या फिर दयनीय और साहित्य के लिए अज्ञानी मित्र, जो ज्ञानी दुश्मन से कई गुना घातक होता है। कई अज्ञानियों ने कटु-यथार्थ से प्रेरित व्यंग्य में व्यंग्यकार को निराशावादी और पलायनवादी समझने की छायावादी-रहस्यवादी सस्कार से ग्रसित भूल भी की है। परिणामस्वरूप व्यंग्य के संबंध में भ्रामक धारणाओं को प्रोत्साहन मिला है।

'व्यंग्य' साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारा के रूप में स्थापित और चर्चित न होने का एक कारण उच्चस्तरीय व्यंग्य की पत्र-पत्रिकाओं का अभाव भी है। व्यंग्य अक्सर वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध होता है। व्यंग्य की मूल प्रवृत्ति वर्तमान व्यवस्था के ही विरुद्ध जनमती है। एक प्रबुद्ध नागरिक

अच्छी तरह जानता है कि सत्ता और व्यवस्था आज भी पिछली शताब्दी की तरह है। सिर्फ शासक बदले हैं। कोई भी प्रकाशक सत्ता प्रतिष्ठान से दुश्मनी का जोखिम नहीं उठा सकता, अगर वह कोई बड़ा प्रकाशक है तो। छोटे प्रकाशक के साधन सीमित है। आम पाठक की क्षमता अभी व्यंग्य को समझने-पहचानने के स्तर पर नही पहुच सकी है। दूसरी ओर घटिया हास्य व्यंग्य की पत्रिकाओं ने भी व्यंग्य के प्रति अपने कर्तव्य की अवहेलना की है।

वर्तमान युग में व्यंग्य की आवश्यकता और लोकप्रियता को देखते हुए भारत के बड़े से बड़े दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओं से लेकर अत्यंत छोटे पत्रो एव लघु पत्रिकाओं ने नियमित रूप से व्यंग्य के स्तंभ प्रारंभ किए हैं, लेकिन कुछ ही पत्रिकाओं ने इसे गंभीर रूप में लिया है अन्यथा हास्य और व्यंग्य के मिश्रण को ही प्रश्रय दिया जा रहा है। उनके 'व्यंग्य' छापने का आधार लोकप्रियता और वैविध्य ही, अधिक है साहित्यिक दृष्टिकोण नही।

लगभग सभी संपादक या समीक्षकों द्वारा कथा, कविता या उपन्यास को चर्चित करना और उन्हें प्रमुखता देने के पीछे यह कारण भी रहा है कि उनका लेखन इन्हीं विधाओं मे रहा है, विशेष जानकारी भी इन्ही विधाओं के संबध में है और उनका हित भी इसी से अधिक सपृक्त है। प्रत्येक साहित्यकार अपनी विधा के लेखन को अधिक चर्चित और स्थापित होते देखना पसंद करता है। व्यंग्य की चर्चा विशेष अवसरों एव विशेष नामों के संलग्न होने पर ही कभी-कभार होती है, जब कभी अपनों की पहचान कराने की जरूरत महसूस की जाती है। यह साहित्य की विधागत क्षेत्रीय भावना है।

यह एक कटु सत्य है कि कुछ बड़े साहित्यकारों की प्रवृत्ति व्यंग्य को हल्के-फुल्के ढग से लेने और घोषित करने की है। इस संबंध में उन्होंने अपने पूर्वसंस्कारों से अलग होने की तकलीफ नही उठाई। शायद स्वयं की महत्ता मे फर्क आने का भय भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस लपेट में कभी स्वयं कुछ व्यंग्यकार भी आ जाते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वयं व्यंग्यकारों ने व्यंग्य-साहित्य के भविष्य के प्रति

उदासीनता बरती है। हिंदी के प्रख्यात व्यंग्यकारों ने अंधाधुंध व्यंग्य लिखे, व्यंग्यसंग्रह भी प्रकाशित हुए, लेकिन व्यंग्य साहित्य को उच्चतरीय गरिमा दिलाने, उसकी व्यवस्था करने, उसके मापदंड स्थिर करने, शास्त्रीय विभाजन करने और रूपायित करने के लिए निबंध, आलोचना, भूमिका, इतिहास, पत्रिका प्रकाशन या गवेषणात्मक, विवेचनात्मक लेख, टिप्पणी आदि लिखने की ओर लापरवाही का रवैया अपनाया और अपने एक गंभीर दायित्व की ओर उदासीन रहे हैं जबकि इस संबंध में नयी कहानी जैसे एक सबल रचनात्मक आंदोलन की आवश्यकता थी। थोड़ा-बहुत ध्यान व्यंग्यकारों ने अपने वक्तव्यों या पुस्तकों की भूमिका में इस संदर्भ में दिया जो नगण्य है। इस ओर बेहद सतर्कतापूर्वक कार्य करने की जरूरत को नहीं नकारा जा सकता।

जब तक व्यवस्था है, उससे संलग्न मानव है और अपनी परिसीमाओं के बाहर वह अपनी क्रिया या प्रतिक्रिया से संबद्ध है, तब तक व्यंग्यलेखन एक प्राकृत आवश्यकता है। प्रख्यात अंगरेज कवि तथा समालोचक मैथ्यू आरनाल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा है। लेकिन आज संभवतः व्यंग्य ही साहित्य की एकमात्र आलोचनात्मक विधा है जो जीवन से सीधा साक्षात्कार करती है और सफल व्यंग्यकार उसमें विद्यमान कुरूपता, विसंगति, आक्रोश, क्षोभ आदि को पूरी ईमानदारी के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः व्यंग्य एक विशुद्ध जीवन सत्य है।

व्यंग्य-लेखन : व्यंग्यकार की नजर में

□ नरेन्द्र कोहली

हिंदी के व्यंग्य-लेखन से अब सामान्यतः यह शिकायत की जाने लगी है कि वह अधिक से अधिक व्यावसायिक होता जा रहा है। जहां कही भी यह शिकायत देखने को मिली—वहां यह नही लिखा गया कि यह शिकायत किस व्यग्यकार से है। अपने यहा शिकायत भी बड़े शिष्ट ढग से होती है। महात्मा गांधी ने कहा था न कि बुराई से घृणा करो, पर बुरे से नहीं। उसी बात को लोग अब तक निभाए चल रहे हैं। यह तो कह देते है कि चोरी हुई है, पर यह कभी नही कहेगे कि चोर कौन है।

कई बार तो मैं ऐसी शिकायतों को टाल जाता हूं। नाम तो बताया नही गया। पता नही जिन लोगों से यह शिकायत है, उनमे मैं सम्मिलित भी हू अथवा नही—फिर मैं ही क्यो व्यर्थ सिर मारता फिरू। शिकायत प्रतिष्ठित व्यंग्यकारो से है—पर पता नही मैं प्रतिष्ठित व्यग्यकार भी हू या नही। स्वयं मेरे मान लेने से क्या होगा। व्यग्य पर लिखे गए निबंधो तथा शोध-निबंधों मे मेरा नाम नही होता, व्यंग्य-विशेषाको के लिए मुझे निमंत्रण नही मिलते, होली के अवसर पर मुझे कभी उपाधि नही मिलती। मेरा मतलब है कि व्यग्यकारों को सम्मानित करने के जितने परपरागत पद्मश्रीय साधन है—उनका उपयोग कभी मेरे लिए नहीं हुआ, तो मैं सातवां सवार खाहमखाह?

पर कभी-कभी शिकायत सीधे मुझसे हुई है और उन पाठकों ने की है, जिन्हे मुझमे कोई द्वेष नहीं है। ऐसे अवसरो पर कई बार मैं सोचने पर बाध्य हुआ हूं कि यह व्यावसायिक होने की शिकायत क्या है। बात-चीत में पता यह चला कि व्यावसायिक होने से तात्पर्य यह है कि व्यंग्य का उद्देश्य समाज, देश तथा सरकार की विसगतियों को उद्घाटित करना नही, वरन् लोगों का मनोरजन कर अपने लिए धनार्जन करना है। स्पष्टतः व्यावसायिकता का संबध लेखन की मूल प्रेरणा से है। यदि लेखन की प्रेरणा धना-

कर्षण है तो लेखन व्यावसायिक है, और यदि प्रेरणा अपने हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति है तो वह लेखन अव्यावसायिक है ! निश्चित रूप से व्यावसायिक लेखन बाजार की मांग देखकर चलेगा, संपादकों का रुख देखेगा और कहीं भी कटु नहीं हो पाएगा। ऐसा व्यंग्य-लेखन चुहल पर आधृत होगा और किसी को चुभेगा नहीं; यद्यपि व्यंग्य का मूल धर्म ही किसी-न-किसी को चुभना है। एक बात और भी सभव है कि केवल उन समस्याओं को लेकर कटु हुआ जाए, जिनसे अधिकारी वर्ग दोषी नहीं ठहरता और लेखक को प्रगतिवादी कहकर उसकी पीठ ठोकता है। मैं ऐसे लेखन को 'अपनी चमड़ी बचाकर लिखना' कहता हूं।

मुझे दूसरों का विश्लेषण करने से अधिक प्रिय आत्मविश्लेषण है। पहले मैं अपने भीतर झांककर देख लूं कि वह आरोप जो मैं दूसरों पर लगाने जा रहा हूं, कहीं मुझ पर भी तो नहीं लगाए जा सकते (और आत्मविश्लेषण से आत्म-विज्ञापन भी तो होता है) !

आज तक जब कभी मुझसे किसी भी पत्रिका द्वारा व्यंग्य भेजने का आग्रह किया गया—उसमें आग्रह केवल एक अच्छा व्यंग्य भेजने का था। सिवाय 'माधुरी' के, जिसने फिल्मी पत्रिका होने के नाते, फिल्मी व्यंग्य भेजने का आग्रह किया—और किसी भी पत्रिका द्वारा विषयगत आग्रह नहीं किया गया। कुछ लोगों के आक्षेप के बावजूद, अपने फिल्मी व्यंग्यों को मैं व्यावसायिक-लेखन नहीं मान सका। मुझे सदा यह लगा है कि फिल्में भी हमारे समाज का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जितनी कि अन्य कोई भी और चीज। आज फिल्में किशोर मस्तिष्क वाले समस्त पुरुष-नारियों, युवा-युवतियों, बालक-बालिकाओं को प्रभावित करने का सर्वाधिक शक्तिशाली माध्यम हैं। ऐसी स्थिति में यदि फिल्मों की विसंगतियों पर व्यंग्य नहीं किया जाएगा तो हम समाज के एक महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा करेंगे।

शेष सारा लेखन मेरे अपने मानसिक आक्रोश के कारण हुआ है। अपनी प्रेरणा और इच्छा से हुआ है। फिर भी यदि मेरे पाठक सहानुभूतिपूर्ण होकर भी ऐसी शिकायत करते हैं, तो क्यों करते हैं ? मैं खोजता हूं तो एक-दूसरे निष्कर्ष पर पहुंचता हूं।

हमारे देश में अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण पर कहीं कोई प्रतिबंध नहीं

है। किंतु, सरकारी साधन—टेलिविजन, रेडियो तथा सरकारी पत्रिकाएं—सरकार-विरोधी कोई चीज प्रकाशित नहीं करेंगे। शेष माध्यम हैं—बड़ी-बड़ी व्यावसायिक पत्रिकाए : 'धर्मयुग', 'सारिका', 'हिंदुस्तान साप्ताहिक', 'कादबिनी' तथा ऐसी ही बड़ी पत्रिकाएं तथा फिल्में। फिल्मों ने कभी व्यंग्य-लेखन की ओर ध्यान नहीं दिया है। बड़ी पत्रिकाओं ने कभी भी मेरे व्यग्यकार को यह नही कहा कि यह लिखो, वह न लिखो। पर मैं अपने अनुभव से जानता हूं कि ढुलमुल सामान्य राजनीतिक व्यंग्य तो ये पत्रिकाएं छाप देती है, किंतु पुलिस, न्यायालय, न्याय-पद्धति, विशिष्ट राजनीतिक व्यंग्य तथा अन्य तत्सबद्ध विषयों पर जो रचनाएं उनके पास जाती हैं, उन्हें वे लौटा देते हैं। मेरा एक व्यंग्य-उपन्यास है 'आश्रितों का विद्रोह'। उसमें दैनिक जीवन की समस्याएं—बस समस्या, राशन समस्या, दुग्ध समस्या, डाक समस्या—तथा ऐसी ही अन्य समस्याए ली गयी है। उपन्यास के शिल्प, रोचकता, प्रामाणिकता तथा अन्य आधारों पर उसे अस्वीकृत नही किया जा सकता; अत: इन बड़ी पत्रिकाओ से वह उपन्यास वापस आ गया, क्योंकि उन दिनों वे पत्रिकाएं 'उपन्यास स्वीकार करने की स्थिति मे नहीं थी।' यहा तक कि विरोधी राजनीतिक दलों की पत्रिकाएं भी उसे स्वीकार नही कर पाईं, क्योंकि आंच उन पर भी आती थी। थक-हार कर मैंने छोटी पत्रिकाओं के द्वार खटखटाए। अंतत: वह उपन्यास विजय अमरेश ने 'कोशा' के लिए स्वीकार किया। पर अभी छपने की स्थिति वहा भी नही आयी है। और यदि छप भी गया तो कितने लोगों तक पहुंच पाएगा, कह नही सकता।

ठीक इसी प्रकार से अपनी अन्य रचनाओं—'जगाने का अपराध', 'बाढ़ का नियंत्रण', 'मंदिर और स्कूल', 'कैनोपी का स्वयवर', 'सापेक्ष-दर्शन', 'राजनीति के संदर्भ में', 'अमरीकन जांघिया', 'कबूतर', 'भगवान की औकात', 'आधुनिक लड़की की पीड़ा', 'देश की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा' इत्यादि को मैं आज भी अपनी श्रेष्ठ व्यंग्य-रचनाएं मानता हू। यह नही कि ये रचनाएं प्रकाशित नहीं हुई; प्रकाशित ये हुई, पर उन छोटी-छोटी पत्रिकाओं में, जिनमें से कोई हजार छपती है, कोई पाच सौ और उचित विक्रय-व्यवस्था के अभाव में वे जन-सामान्य तक पहुंच नही पाती। वे

अपने-अपने सकीर्ण क्षेत्रों (Pockets) मे सीमित होकर रह जाती हैं ।

इस प्रकार जब मेरा सामान्य पाठक मुझसे यह शिकायत करता है कि मेरा लेखन व्यावसायिक हो रहा है तो मैं उसे गलत नही ठहरा सकता। मैं जानता हू कि मैं व्यावसायिक नही हो रहा हूं; पर मैं यह भी जानता हूं कि लेखक और पाठक मे सीधा सम्पर्क कही नही है। उन दोनों के मध्य मे एक तीसरी कडी है—वह है - व्यावसायिक प्रेस। इस देश मे छपने पर सेंसर नही है, किंतु व्यावसायिक प्रेस की स्क्रीनिंग, एक अप्रत्यक्ष एव बडा शिष्ट सेंसर है। वह व्यवस्था पर आघात करने वाली मेरी हर तीखी रचना लौटा देता है और अत्यन्त आग्रहपूर्वक एक प्यार भरा पत्र लिखता है, जिसमें एक 'सशक्त व्यंग्य' की माग होती है। इस सेंसर से लडने, इसका विरोध करने का कोई साधन मेरे पास नही है।

फिर होता यह है कि व्यग्य के क्षेत्र मे ही नही, प्रत्येक लेखन-क्षेत्र में से, यह विकसित प्रेस-व्यवस्था उन लेखकों को चुन लेती है, जो अपनी रचनाओ से पाठक मे असतोष नही जगाते, उन्हें विभिन्न धरातलों पर जागरूक नहीं बनाते—वे पाठको को बहलाते रहते है; तथा व्यवस्था नामक भी कोई चीज है, जिसमें दोष हैं और उस व्यवस्था को बदलना चाहिए, जैसे विषयों को पूर्णत 'ब्लैक-आउट' कर जाते है। प्रेस उन लेखकों की प्रतिष्ठा करता है और परिणामस्वरूप बड़े-बडे प्रकाशक, रेडियो, टेलिविजन, फिल्म, विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी तथा साहित्य-परिषदें उनके पीछे भागने लगती हैं।

कमिटेड लेखक बहुत पीछे छूट जाता है। न वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर पाता है, न पाठक उसकी स्थिति समझ पाता है !

हिन्दी में हास्य-व्यंग्य का पाठक : एक टिप्पणी

◻ अजातशत्रु

वे मुझसे मिले। कहने लगे, "भाई, मैं हास्य-व्यंग्य को स्थायी साहित्य नही मानता। वह तृतीय श्रेणी का साहित्य है।"

मैंने कहा, "मैं आपसे सहानुभूति रखता हूं। पर पसंद स्वभाव की चीज होती है और बहुत कुछ परिस्थितियों की। आप ब्राह्मण हैं। शुद्धता के सस्कारों मे पले है। आप अच्छी-खासी जायदाद छोड गया है। कभी दुःख नही देखा, कभी गरीबी नहीं भोगी। अगर ऐसे मे हास्य और व्यंग्य घटिया मालूम हों तो आपके लिए ताज्जुब और मेरे लिए दु.ख की बात नही है।"

वे एक प्रोफेसर थे।

जी हां, हास्य और व्यंग्य अक्सर स्त्रियों को भी पसंद नही आते। वे इन्हे पढ़कर हस तो लेती हैं, पर नाक-भौं भी सिकोड़ती है। व्यंग्य-लेखकों की शिकायत है कि उन्हें पाठिकाओ के पत्र नहीं मिलते। मगर क्या किया जाये! अक्सर सम्पन्न महिलाएं और शालीन पुरुष जिस क्षुद्रता और सतहीपन के शिकार होते है, उन पर व्यंग्यकार व्यंग्य करता है। वह आचरण और विचार-पद्धति के थोथेपन पर आक्रमण करता है—जिसका नतीजा यह है कि वह इन लोगों में अप्रिय हो जाता है।

हास्य-व्यंग्य के साथ यह बहुत बड़ी ट्रेजेडी है। पर इसका क्या कारण है? इसका प्रमुख कारण यह है कि वह पाठक मे अंतर्दृष्टि चाहता है। व्यंग्य सतहों को लेकर नही, सतहो के नीचे छिपे जो विरोधाभ.स हैं, उन्हें अपना विषय बनाकर सक्रिय होता है। अब ये विरोधाभास कितने दारुण हैं, मानवीय मूल्यो का कितना नाश करते हैं, मनुष्य के मानसिक एवं सामाजिक जीवन को कितना कुप्रभावित करते है—यह सब एक पाठक को देखना पड़ेगा, वर्ना बाहर से व्यग्य मजाक के सिवाय कुछ नही मालूम होगा। अक्सर सुविधाभोगियो और परिस्कार-वादियो के पास न यह दृष्टि

अपने-अपने संकीर्ण क्षेत्रों (Pockets) में सीमित होकर रह जाती हैं।

इस प्रकार जब मेरा सामान्य पाठक मुझसे यह शिकायत करता है कि मेरा लेखन व्यावसायिक हो रहा है तो मैं उसे गलत नही ठहरा सकता। मैं जानता हूं कि मैं व्यावसायिक नहीं हो रहा हूं; पर मैं यह भी जानता हूं कि लेखक और पाठक में सीधा सम्पर्क कही नही है। उन दोनों के मध्य मे एक तीसरी कडी है—वह है · व्यावसायिक प्रेस। इस देश में छपने पर सेंसर नहीं है, किंतु *व्यावसायिक प्रेस की स्क्रीनिंग, एक अप्रत्यक्ष एव बडा शिष्ट सेंसर है।* वह व्यवस्था पर आघात करने वाली मेरी हर तीखी रचना लौटा देता है और अत्यन्त आग्रहपूर्वक एक प्यार भरा पत्र लिखता है, जिसमें एक 'सशक्त व्यंग्य' की मांग होती है। इस सेंसर से लड़ने, इसका विरोध करने का कोई साधन मेरे पास नही है।

फिर होता यह है कि व्यग्य के क्षेत्र मे ही नही, प्रत्येक लेखन-क्षेत्र मे मे, यह विकसित प्रेस-व्यवस्था उन लेखको को चुन लेती है, जो अपनी रचनाओं से पाठक मे असतोष नही जगाते, उन्हे विभिन्न धरातलों पर जागरूक नही बनाते—वे पाठकों को बहलाते रहते हैं; तथा *व्यवस्था नामक भी कोई चीज है, जिसमे दोष हैं और उस व्यवस्था को बदलना* चाहिए, जैसे विषयो को पूर्णत *'ब्लैक-आउट'* कर जाते हैं। प्रेस उन लेखकों की प्रतिष्ठा करता है और परिणामस्वरूप बडे-बड़े प्रकाशक, रेडियो, टेलिविजन, फिल्म, विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी तथा साहित्य-परिषदें उनके पीछे भागने लगती हैं।

कमिटेड लेखक बहुत पीछे छूट जाता है। न वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर पाता है, न पाठक उसकी स्थिति समझ पाता है!

हिन्दी में हास्य-व्यंग्य का पाठक : एक टिप्पणी

□ अजातशत्रु

वे मुझसे मिले। कहने लगे, "भाई, मैं हास्य-व्यग्य को स्थायी साहित्य नही मानता। वह तृतीय श्रेणी का साहित्य है।"

मैंने कहा, "मैं आपसे सहानुभूति रखता हूं। पर पसंद स्वभाव की चीज होती है और बहुत कुछ परिस्थितियो की। आप ब्राह्मण है। शुद्धता के संस्कारो मे पले है। बाप अच्छी-खासी जायदाद छोड़ गया है। कभी दु:ख नही देखा, कभी गरीबी नही भोगी। अगर ऐसे में हास्य और व्यग्य घटिया मालूम हों तो आपके लिए ताज्जुब और मेरे लिए दु.ख की बात नही है।"

वे एक प्रोफेसर थे।

जी हा, हास्य और व्यग्य अक्सर स्त्रियों को भी पसद नही आते। वे इन्हें पढ़कर हस तो लेती हैं, पर नाक-भौ भी सिकोड़ती है। व्यग्य-लेखकों की शिकायत है कि उन्हें पाठिकाओं के पत्र नही मिलते। मगर क्या किया जाये! अक्सर सम्पन्न महिलाएं और शालीन पुरुष जिस क्षुद्रता और सतहीपन के शिकार होते है, उन पर व्यग्यकार व्यंग्य करता है। वह आचरण और विचार-पद्धति के थोथेपन पर आक्रमण करता है—जिसका नतीजा यह है कि वह इन लोगो मे अप्रिय हो जाता है।

हास्य-व्यग्य के साथ यह बहुत बडी ट्रेजेडी है। पर इसका क्या कारण है? इसका प्रमुख कारण यह है कि वह पाठक मे अतर्दृष्टि चाहता है। व्यंग्य सतहों को लेकर नही, सतहों के नीचे छिपे जो विरोधाभास हैं, उन्हे अपना विषय बनाकर सक्रिय होता है। अब ये विरोधाभास कितने दारुण हैं, मानवीय मूल्यों का कितना नाश करते हैं, मनुष्य के मानसिक एवं सामाजिक जीवन को कितना कुप्रभावित करते है—यह सब एक पाठक को देखना पड़ेगा, वर्ना बाहर से व्यग्य मजाक के सिवाय कुछ नही मालूम होगा। अक्सर सुविधाभोगियों और परिस्कार-वादियों के पास न यह दृष्टि

होती है और न यह मानसिकता कि वे जीवन के विद्रूप को देखें, उसके घृणात्मक अस्तित्व को नकारें और व्यंग्य-लेखक की चिंता को समझें। वे सिर्फ हंसने-हसाने को घटिया चीज मानते हैं, गो उत्पीड़न से शिकायत उन्हें भी है ! उस उत्पीड़न से, जिसे लेकर व्यंग्य आरंभ होता है !

व्यंग्य को नकारते समय अक्सर बगल में कहानी को रखा जाता है। पर कहानी गंभीर होती है। वह विसंगतियों को छूती है। और दोनों तरफ के अपवादों को हटा दिया जाता तो वह प्रहारक भी उतनी नहीं होती, जितना व्यंग्य होता है। कहानी अशांत करती है। व्यंग्य चुभता है। कहानी सोचने को विवश करती है। व्यंग्य उसके आगे, उत्तेजित भी करता है। वास्तव में जब युग-मूल्य ध्वस्त हो गये हों, राजनीति का पतन हो गया हो, जन-जीवन में त्राहि-त्राहि मची हो, तब व्यंग्य अपने पूरे 'फार्म' में सामने आता है, और गंभीर साहित्य से ज्यादा प्रभावी साबित होता है। वह विरोध है, वर्णन नहीं। कहानी शायद विसंगति का वर्णन करती है। व्यंग्य उसका सीधा विरोध करता है। इस तरह व्यग्यकार और कहानीकार में शैली तथा निर्वाह का फर्क होता है। भीतर से उनकी मानसिकता एक ही होती है। दोनों में मानवतावादी चेतना बराबर पाई जाती है !

पर चूंकि बहुत से लोग स्वभाव से ही हास्य-व्यग्य के विरोधी होते हैं और उनका कुलीन परिवेश, उन्हें और अधिक परिस्करवादी बना देता है, इसलिए वे अपने सरकारों से हटकर, तटस्थ रूप से, व्यंग्य तथा व्यंग्यकार की भीतरी दुनिया को नहीं समझ पाते। वे न तो उन प्रेरक स्थितियों को समझना चाहते हैं जिनमें से व्यंग्य का जन्म होता है और न उस मानसिकता को पहचानना चाहते हैं, जिसके कारण व्यंग्यकार व्यग्य लिखने को प्रेरित होता है। वे नहीं जानते कि व्यंग्य और व्यग्य-लेखन की प्रक्रिया बहुत जटिल है।

सवाल है कि क्या व्यग्यकार किसी कहानीकार से कम होता है ? क्या वह जीवन के प्रति किसी गंभीर लेखक से कम चिंतित होता है ? यदि नहीं, तो वह किस आधार पर फूहड़ या गैर-जिम्मेदाराना समझा जाता है ? यदि गोगोल की 'ओव्हर कोट' पढकर उसके कथानक की बेहूदगी पर हंसी आती है तो क्या यह सोचने की बात नहीं है कि कथा की घटनाओं में

बेहूदगी पैदा करके लेखक ने उस बेहूदगी पर आक्रमण किया है, जो जीवन-व्यवस्था में व्याप्त है ? (फर्क सिर्फ उस बेहूदगी के ट्रीटमेण्ट का है। वर्ना कहानीकार और व्यंग्यकार एक ही लड़ाई लड़ते हैं।) क्या परसाई की 'दस दिन का अनशन' पढ़कर यही कहा जायेगा कि यह असभव बेहूदगी की कथा है। या यह भी सोचा जायेगा कि बन्नू से एक औरत पाने के लिए अनशन कराने-जैसी बेहूदगी पैदा करके लेखक ने उस जीवित बेहूदगी पर व्यंग्य किया है जो राजनीति के क्षेत्र मे अनशन को लेकर व्याप्त है ? अर्थात्, देखना पड़ेगा कि 'एब्सर्डिटी' जीवन में है या नही। यदि है तो उस पर 'अटेक' करने के लिए साहित्य में 'एब्सर्डिटी' लाना वैज्ञानिक है या कोरा मजाक ? अगर एक व्यग्य-चित्रकार चित्र मे आड़े-टेढ़े किस्म के मनुष्य बनाता है और कुत्तों तथा मोटरों को हंसते या घुडकते हुए बतलाता है तो यह मसखरापन नही है। यह बचपना नही है। इसके पीछे व्यंग्य-चित्रकार की जीवन की बदसूरती पर व्यंग्य करने की प्रकृति छिपी हुई है। वह इस भीतरी बदसूरती को अपनी ड्राइंग की 'सायास' बदसूरती से व्यक्त करना चाहता है। वह गंभीर है। उसकी रेखाएं सिर्फ मजाक करती है। इसका मतलब यह हुआ कि हास्य-व्यग्य-विरोधी पाठक को अपनी नजर फैलाकर इस विज्ञान में भी जाना पडेगा, वर्ना 'छींक के कारण एक क्लर्क का मर जाना' चेखव की एक कथा मे उसे कोरा गप्प ही लगता रहेगा !

"पर कुछ भी कहो ! कहानी कहानी है। और व्यंग्य व्यग्य ही है।"

"है भाई, तो मैं क्या करूं ? इसके लिए भारतीय मनोविज्ञान भी तो दोषी है !" यहा का आध्यात्मिक अवसादवादी चिंतन, जीवन और विश्व को नकारने की प्रवृत्ति, मौत तथा नरक का चिरंतन आतंक, आगामी जन्म मे भुगतने की चिंता—आदि चीजों ने यहां के आदमी को इतना ग्रस लिया है कि वह जीवन को दु.ख तथा अवसाद मे ही तृप्ति अनुभव करता है। अगर वह थोड़ा-सा हंस लेता है या इधर के जीवन के लिए थोड़ा-सा भौतिकवादी हो जाता है तो भीतर से अपने को अपराधी समझने लगता है। उसे लगता है, यह सब तो ठीक है, पर किसी बहुत बड़े नैतिक संदर्भ मे वह नीचे भी गिर गया—चूंकि वह नैतिक सदर्भ स्वर्ग और नरक से

संबधित है। इस तरह जिन्होने जीवन को श्मशान मान लिया है, जिन्होंने रोने को जिम्मेदारी और हंसने को आध्यात्मिक पतन मान लिया है, उन्हें हंसाने वाले साहित्य पर या 'बेहूदे' कथानक वाले व्यंग्यो पर अनास्था ही रहेगी। अतः इस देश मे हास्य-व्यंग्य-विधा की उपेक्षा का कारण यहा की सास्कृतिक विरासत मे प्राप्त अवसादवादी नजरिया भी है।

पश्चिम मे ऐसा नही होता। वहा 'इस' जीवन पर बल दिया गया है। वहा मौत को एक सचाई तो समझा जाता है, पर हम-गाकर जीवन के अवसाद को भी कम करने की कोशिश की जाती है। पश्चिम का आदमी जानता है कि सच न बदले न सही, पर मनुष्य भी स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र निष्ठा से युक्त प्राणी है। अगर वह 'प्रयास' करे तो इस जीवन को कुछ सीमा तक सहनीय बना सकता है। इसीलिए वहा हास्य, खेल-कूद, क्लब, पार्टी आदि को जीवन-पद्धति का अंग माना जाता है। स्वयं अंग्रेजों की धारणा है कि 'भारतवर्ष एक रोनी सूरतवालों का देश है।' अगर हम उनके इस कथन को देश-प्रेम की भावुकता में ललकार दें, यह अलग बात है, पर यदि हम उस पर तटस्थ गहराई से विचार करें तो पायेंगे उसमे सचाई भी है।

अत. जब एक एन्टी-हास्य-व्यंग्य-पाठक हास्य और व्यंग्य की विधा पर अपना एकांगी, गैरजिम्मेदाराना और निजी सस्कारों से प्रभावित वक्तव्य देता है तो उसे उन सारी बातो पर सोचना पडेगा, जो ऊपर बतलाई गयी हैं। हा, यदि हास्य-व्यंग्य के वैज्ञानिक पाठक के रूप में वह यह इंगित कर सकता है कि व्यग्य अपने विधागत विधान मे गिरा हुआ है, उसमे फूहड़ हास्य की भरमार है, वह बडी विसंगतियो को नकारकर सिर्फ टुच्चे अन्तर्विरोधों पर लिखा गया है, उसमे लेखक का उद्देश्य परिवर्तन नही, मनोरंजन है, वह सिर्फ मजाक करता है या गाली बकता है—तब कहा जायेगा कि उसका दावा सही है। घटिया को तो स्वयं परमात्मा भी बढिया नही कह सकते। हम व्यंग्यकारों की क्या बिसात है !

व्यंग्य और व्यंग्य-विधा

□ डॉ० श्याम सुन्दर घोष

व्यग्य एक गभीर मनोभाव है, मनोभाव ही नही, मनोदशा कहिए। मैं इसे हल्का मानने का हिमायती नही हूं। यह आकस्मिकता का फल न होकर परिपक्व मानसिकता का फल है। व्यग्य-लेखक, मेरे विचार से, सम्पूर्णतः व्यग्य-लेखक होता है। ऐसे भी लेखक है, या हो सकते है, जिन्हे यदा-कदा व्यग्य-लेखन का 'दौरा' आता रहता है। ऐसे लेखक नकली व्यग्य-लेखक या 'कैजुअल' व्यग्य-लेखक कहे जाएगे। ये व्यंग्य को अपने लेखन मे 'जायके' की तरह इस्तेमाल करते है। व्यग्य ऐसे लेखको का निर्दिष्ट गुण, धर्म या स्वभाव नही होता। ये व्यग्य-लेखक न कहलाकर अधिक-से-अधिक व्यग्य लेखकों के हमजोली, हमसफर या 'फेलो ट्रैवलर' कहे जा सकते है। व्यग्य-लेखन के क्षेत्र मे इनका बिल्कुल ही महत्त्व नही है, ऐसा नही है। लेकिन व्यग्य इनकी स्थायी मानसिकता न होने के कारण ये 'हाशिये पर के व्यग्य-लेखक' कहे जाएंगे।

व्यग्य एक परिपक्व और स्थायी मानसिकता की उपज है। यह परिपक्वता अनायास नही आती। यह अनुभव-ऊष्मा की उपज है। इसलिए व्यग्य-लेखन भावुकतामूलक लेखन मे भिन्न होता है। भावुकता-मूलक लेखन जीवन के प्रारभिक चरणो में भी सभव है, बल्कि यह अधिकतर तभी दृष्टिगत होता है। लेकिन व्यग्य-लेखन अधिकतर परिपक्ववय का ही परिणाम होता है। जब हम बहुत दीन-दुनिया देख लेते है, दर-दर की ठोकरें खा लेते है, देखने-सुनने और भोगने के बाद काफी चिन्तन-मनन कर चुकते हैं, तब इसमे व्यग्य का 'बोधिमत्व' उदित होता है। इसलिए व्यंग्य के पीछे जो मानसिकता होती है वह एक परिपक्व और स्थायी मानसिकता होती है। वह 'मूड' से बढकर 'मिजाज' बन जाता है इसलिए आसानी से नही बदलता और न साथ छोड़ता है।

व्यग्य को जो लोग एक अलग विधा मानने की बात करते हैं उनके

मन में यही तर्क प्रमुख होता है कि व्यंग्य-लेखक अपने लेखन की किसी भी विधा में व्यंग्य को ही सर्वोपरि स्थान देता है। इसलिए वहां वस्तु-तत्व ही विधा-शिल्प के शीर्ष पर स्वर्ण-शिखर की तरह चमकता नजर आता है। नामकरण में हम आखिर प्रमुखता को ही तो तरजीह देते हैं, इसलिए व्यंग्य को किसी विधा के अधीन न मानकर विधाओं को व्यंग्य के अधीन मानने की बात कुछ लोग करते हैं। इसके पीछे कुछ औचित्य भी है।

जैसे हम ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास या सामाजिक उपन्यास आदि विभाजन करते हैं वैसे व्यंग्यमूलक उपन्यास या व्यंग्यात्मक उपन्यास कहना उचित नही समझते क्योंकि तब व्यग्य उपन्यास का अधिक से अधिक उपकरण समझा जाएगा। लेकिन हम जानते है कि श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' या प्रस्तुत पंक्तियो के लेखक का 'एक उलूक कथा' व्यंग्य पहले है और उपन्यास बाद में। इसलिए व्यंग्य-उपन्यासों को हम व्यंग्यात्मक उपन्यास या व्यंग्यमूलक उपन्यास नहीं कह सकते। ऐसे उपन्यास भी हिन्दी मे हैं, और आगे लिखे जा सकते हैं, लेकिन उनकी एक दूसरी कोटि होगी। हम व्यंग्य-उपन्यास और व्यंग्यात्मक या व्यंग्यमूलक उपन्यासों मे एक स्पष्ट अन्तर मानते हैं। यही बात व्यंग्य-नाटक और व्यंग्यात्मक नाटक, व्यंग्य-काव्य और व्यंग्यात्मक काव्य के बारे में भी कही जा सकती है।

साहित्य के क्षेत्र मे व्यंग्य की स्वायत्तता अब प्रतिष्ठित होने को है। इसलिए व्यग्य अब किसी विधा का मोहताज नही है। पहले व्यंग्य नाबालिग बच्चे की तरह था जिसे साहित्य की महफिल या मजमे मे घुसने के लिए किसी उगली की जरूरत पड़ती थी। तब वह धीरे-धीरे किसी विधा के सहारे ही साहित्यिक दुनिया मे प्रवेश पा सकता था। लेकिन अब वैसी स्थिति न रही। अब उसे विधाओं के सहारे की जरूरत न रह गयी। अब वह विधाओं का आजादी से मनमाना उपभोग कर सकता है। उदाहरण के लिए 'एक उलूक कथा' को ही लें। कहने के लिए तो लोगों ने उसे व्यंग्य-उपन्यास कहा है। पर लेखक उसे व्यंग्य तंत्र मानता है। व्यंग्य का भी एक तंत्र होता है, याकि होना चाहिए, और उसकी भी खोज और स्थापना होनी चाहिए, यह लेखक का दृष्ट रहा है। इसके लिए उसने बेखौफ डायरी, संस्मरण,

कविता, नाटक, एकालाप, फँटेसी आदि शिल्प-विधाओं का उपयोग किया है। वह कहीं इनका खुलकर उपयोग करता है और कहीं तनिक-सा काम में लाकर छोड़ देता है। यह इसलिए कि उसका इष्ट व्यंग्य है, विधा नहीं। जहा व्यग्य किसी विधा से स्पष्ट, पुष्ट और कारगर होता है वहा वह उसे स्वीकार करता है। लेकिन जैसे ही कोई विधा उसके व्यंग्य को मलिन करती नजर आती है वह उसे झटके से परे फेंक देता है। लेकिन यह विधाओं के साथ बलात्कार न होकर उनका मुक्त और निर्द्वन्द्व उपभोग है। इसे विधाओ के साथ कुछ लोग व्यंग्य-लेखक का 'रोमान्स' भी कह सकते हैं। लेकिन बेचारा व्यंग्य-लेखक इतना सौभाग्यशाली कहां कि विधाओं के साथ रोमान्स या छेडखानी करता फिरे। वह तो एक उद्देश्य के अधीन सिद्दत से काम करने वाला प्राणी है। 'एक उलूक कथा' के प्रसंग में भले ही किसी को ऐसा लगा हो। लेकिन यह लेखक की व्यक्तिगत कमजोरी भी हो सकती है। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि विधाओं को स्वीकारने या अस्वीकारने के पीछे व्यग्य की सफलता या असफलता से प्रेरित होने की बात ही प्रमुख होती है।

व्यंग्य-लेखन शुद्ध साहित्यिक लेखन न होकर रणमूलक लेखन है। उसके पीछे एक स्ट्रेटजी या मोर्चाबन्दी होती है। यह अकारण नहीं है कि भगवती चरण वर्मा ने अपने व्यंग्य-कथा-संग्रह का नाम 'संकट' से बदलकर 'मोर्चाबन्दी' कर दिया। यह व्यंग्य के स्वभाव को ठीक-ठीक समझने का परिणाम है। व्यंग्य विधाओं का उपयोग मनमाने ढंग से नहीं करके 'जरूरत के मुताबिक' करता है। इसलिए मैं मानता हूं कि विधाओ के साथ उसे आजादी बरतने की, या चुनाव करने की, सबसे ज्यादा छूट होनी चाहिए। इस छूट के कारण ही व्यंग्य के सामने विधाएं छोटी या हल्की पड़ जाती है और व्यंग्य विधा एक अलग उपविभाग हो जाता है।

व्यंग्य चालू लेखन है या गंभीर लेखन, इस बात को लेकर भी चर्चाएं होती हैं। इस सदर्भ में व्यंग्य के प्रतिमानीकरण की बात उठनी चाहिए। व्यग्य के भ्रष्ट या फैशनेबुल होने की संभावनाएं, और सभी साहित्य-प्रकारों से, बहुत अधिक रहती हैं। अपरिपक्व व्यंग्य-लेखक इसे विनोद, चुटकुला, मसखरेपन आदि का पर्याय समझ लेते हैं। व्यंग्य में यह सब कुछ

हो सकता है पर असल चीज है व्यंग्यकार की दूरगामी और मर्म-भेदिनी दृष्टि। यदि वह उसके पास है तो इन चीजों का उपयोग करके भी वह हल्का या भ्रष्ट न होगा। लेकिन यदि वही उसके पास नहीं है तो बीरबल का खजाना होने पर भी वह लतीफेबाज होकर ही रह जायगा, व्यंग्यकार नही कहला सकेगा।

व्यंग्य का पौधा यथार्थ की गहरी जानकारियों, मानवीय रिश्तों, मनोभावो और पुष्ट तथा परिपक्व संवेदनाओं की जमीन पर उगता है। वह ऊपर-ऊपर जितना तथा जैसा दीखता है ठीक वैसा ही और उतना ही नही होता। व्यग्य का एक अलक्षित स्वभाव और चरित्र भी होता है। वह पर्दे के पीछे रहकर भी अपनी ओजस्विता और तेजस्विता का संकेत देता रहता है। इसीलिए यह कहना सही है कि व्यंग्य कोई सतही मनोभाव या मनोदशा नही है। जब आप अपने को सम्पूर्ण मानवीय नियति से जोड़कर संगतियो और असंगतियों पर ध्यान देते है तब कुछ ऐसी बातें प्रत्यक्ष होती हैं जो आपको अन्दर-ही-अन्दर हिला देती है। आप उस बोध से तिलमिला जाते हैं। लेकिन उन असगतियों का नियमन आपके वश मे नहीं होता। उनकी एक मुदीर्घ कार्य-कारण परम्परा होती है। उन सबको समझते हुए और अपने टीसते और तिलमिलाते हुए मन को अपने वश में करते हुए आप शब्दों और वाक्यो का एक ऐसा चक्रव्यूह रचना चाहते हैं जहा असगतियों के अभिमन्युओ को लाया जा सके और वे धराशायी हो सकें। इसलिए व्यंग्य-लेखन योजना-विहीन लेखन न होकर योजनाबद्ध लेखन होता है। वह उद्वेलित मानस की अनुद्वेलित व्यूह-रचना है। उसकी सोद्देश्यता शर्माने की नही; बल्कि गर्व करने की वस्तु है।

भाषा और व्यंग्य-भाषा

व्यग्य-विधा के कारण भाषा का कोई खास रूप बनता है या नही, इस पर गौर करना जरूरी है। कभी मैंने एक परिचर्चा मे सवाल उठाया था—व्यंग्य-भाषा और साहित्य-भाषा एक हो या अलग-अलग? क्या व्यग्य-भाषा का कोई अतिरिक्त स्वरूप होता है ? या होना चाहिए ?

इस दृष्टि से विचार करने पर मानना होगा कि व्यंग्य-भाषा को ज्यादा आमफहम, प्रत्यक्ष (डाइरेक्ट) और कारगर बनाने की कोशिश करता है। वैसे तो किसी भी साहित्य-विधा में भाषा का आदर्श स्वरूप यही होना चाहिए लेकिन व्यंग्य-भाषा के लिए तो ये अनिवार्य और अपरिहार्य गुण है। और किसी भाषा मे आप ललित साहित्यिक शब्दावली से काम चला ले सकते है लेकिन व्यग्य के बाजार मे ऐसी भाषा का कोई मोल न होगा। वहा तो बिल्कुल *'चालू जुबान' का उपयोग करना होगा।*

व्यंग्य-लेखक के भाषा-संबंधी-आदर्श सामान्य लेखकों के भाषा-सबधी-आदर्श से निश्चय ही भिन्न होंगे, या मेरे विचार से, होना चाहिए। जैसे नाई हजामत बनाने के पहले अपने अस्तुरे को तेज कर लेता है, और उंगली पर धार की परख भी कर लेता है, उसी प्रकार व्यंग्य-लेखक को अपनी भाषा की जांच कर लेनी चाहिए। व्यंग्य-लेखक की भाषा में धार और नोक दोनों जरूरी हैं। कभी वह नश्तर लगाता है और कभी खंजर चुभोता है। यदि उसकी भाषा एकरस और एक ढग की होगी तो वह यह काम बखूबी नही कर सकता।

व्यग्य में भाषा का छल-छद्म या बनाव-शृगार नही चल सकता। वहां छैल-छबीली, घूघट वाली, लाजवन्ती भाषा का कोई काम नही है। व्यग्य-भाषा तो छप्पनछुरी वाली होनी चाहिए। वह तो ऐसी हो जो केवल लेखक की मंशा से कदम से कदम मिलाकर ही नही चले, वरन् शिकारी कुत्ते की तरह मालिक की मंशा को पहले ही भाप ले और आगे ही आगे छलांग मारती जाए और विसगतियों को सूंघकर झपाटे से दबोच ले। इसलिए व्यंग्य-भाषा सामान्य साहित्यिक भाषा से ज्यादा चुस्त-दुरुस्त, नुकीली-फुर्तीली और चीरने फाडने वाली होनी चाहिए। व्यंग्य-भाषा न तो *फीलपांवी भाषा होगी और न चर्बीदार भाषा।* उसके शब्द ऐसे हों जिन्हे कोशो मे न ढूंढना पड़े। व्यंग्यकार अपनी भाषा गली-कूचों और चौक-नुक्कड़ से ले पर उन्हे इस प्रकार अपने काम लाये कि उसका उद्देश्य ठीक-ठीक सधे। यह काम बहुत कुछ ऐसा ही है कि हम गली-कूचों और चौक-नुक्कड़ पर भटकने वाले किशोरों और नौजवानो को जमा करें और उन्हे ट्रेनिंग देकर एक 'छापामार दस्ता' बना लें। व्यंग्य-भाषा का स्वरूप चाहे

जितना मामूली और सस्ता हो लेकिन उसके अन्दर एक गहरा अनुशासन और सोद्देश्यता होती है। यही उसे कारगर और गहरा बनाती है।

व्यंग्य-भाषा में भाषा का ऊपरी रूप ही सब कुछ नही है। व्यंग्य-भाषा रेगुलर आर्मी का सिपाही न होकर छापामार दस्ते का सिपाही होता है। इसलिए उसकी वर्दी बहुत ठीक-ठिकाने की नही भी हो सकती है। पहली नजर मे जैसे छापामार बिल्कुल अनपढ़ किसान और मजदूर दिखाई देता है वैसे ही व्यंग्य-भाषा भी सामान्य जनभाषा या गंवारू-बाजारू भाषा-सी मालूम हो सकती है। लेकिन जैसे छापामार की जांच उसकी रणनीति और हथियारो की मार से होती है, और वही उसे छापामार सिद्ध करती है, उसकी वर्दी या कमीज के लगे बिल्ले या स्टार नही, उसी प्रकार व्यंग्य-भाषा भी अपने कारगर असर और इस्तेमाल से अपना व्यक्तित्व, चरित्र और सार्थकता सिद्ध करती है।

व्यंग्य-भाषा के बहुत ताम-झाम नहीं होते। वहां भाषा को बंगाली लड़कियों के बालों की तरह लहराने और फहराने का मौका तो नहीं ही है, अपितु काट-छांट के नाम पर बॉब करके फैशन गढने की भी जरूरत नही है। उन्हें तो जरूरत पड़ते ही तराशते रहना पड़ सकता है जैसे कि सिपाहियों को अपने बाल हफ्तेवार तराशने पड़ते है। वहां भाषा न तो जुल्फें संवारती है और न बालों के छल्ले बनाती है। केवल फैशनेबुल व्यंग्यकार ही ऐसी बातों में रुचि ले सकते है जैसे कि कुछ हद तक शरद जोशी लेते हैं याकि उनके ही एक-दो फेलो ट्रेवलर लेने की कोशिश करते हैं।

व्यंग्य-भाषा में ग्राम्य प्रयोगों, स्लैंगों और गालियो का भी एक निश्चित अनुपात होता है क्योंकि इसके बिना उसका काम नहीं चलता। गाली आखिर क्या ? यह भाषा मे हमारा क्रोध, घृणा, वैर, जुगुप्सा ही तो है। इसलिए गालियों का एक-एक शब्द सामान्य भाषा के शब्दों से ज्यादा कारगर और व्यंजक होता है। कोई पात्र जब ठस्से के साथ 'स्साला' कहता है तो इस एक शब्द से वह इतना कुछ कह देता है कि उसे पैराग्राफ लिखने की जरूरत नही होती।

सामान्य सामाजिक जीवन में हम गालियों का भरपूर उपयोग करते

हैं। जो जुबान से गालियां नही निकालते वे भी मन-ही-मन तो गालियां देते ही है। इसलिए गालियों से हमें परहेज नही हो सकता। राही मासूम रजा ने यह ठीक ही कहा है कि जब पात्र गालिया बकते है तो यह वाजिब नही है कि उनके मुख मे गीता के श्लोक रख दिए जायं। व्यंग्यकार के लिए तो गाली बुलेट की तरह है। जहा भाषा शब्दो की मोर्चाबन्दी करके विसंगतियों को अपने चपेट मे ले लेती है वहा गाली बुलेट बनकर छूटती है और कदाचार की नाक ढहा देती है। लेकिन गालियों का बेजा इस्तेमाल व्यंग्य मे बिल्कुल जरूरी नही है। यह न तो तकियाकलाम होना चाहिए और न मसखरी का पर्याय। जब व्यग्य-भाषा मे गालिया सस्ती बना दी जाती हैं तो व्यंग्य-भाषा में स्तरहीनता और भोंड़ापन आ जाता है। गालियो को भी बिल्कुल हथियार की तरह इस्तेमाल करने की जरूरत है।

व्यग्य भाषा में लाज-लिहाज की बात बिल्कुल नही चलती। वहा शिष्टता की माग करना बिल्कुल व्यर्थ है। तो क्या व्यंग्य की भाषा बिल्कुल अशिष्ट होती है? यदि आप सुनना ही चाहते हैं तो लीजिए मैं इसका उत्तर साफ 'हां' में देता हूं। लेकिन यह अशिष्टता भी व्यक्ति और समूहसापेक्ष है। परसाई ने कही यह ठीक ही कहा है कि शिष्टता की माग तो वे करते है जो शिकार होते हैं। व्यग्य-भाषा की शिष्टता-अशिष्टता उन्ही के लिए है जो खुद अशिष्ट हैं। यदि उनका वश चले तो वह शिष्टता के नाम पर व्यग्य की सारी तेजी-तल्खी छीन लें और इस प्रकार उसके हीजड़ेपन पर हंसें और मुस्करायें।

आज के युग में किसी के विरोध में जाना ही अशिष्टता है। और व्यग्य तो केवल विरोध ही नही, विद्रोह और आक्रमण भी है। तो फिर वह शिष्ट कैसे हो सकता है? अशिष्टता तो उसकी घुट्टी में है। और चूंकि यह अशिष्टता वह आचरण से बढ़कर भाषा से व्यक्त करता है इसलिए उसकी अशिष्टता किस सीमा तक जा सकती है इसका एक छोटा-सा उदाहरण नरेन्द्र कोहली की कहानी 'सार्थकता' से लें—"मेरी पत्नी ने बताया था कि जब सवेरे पाडेय साहब आफिस जाते है और मिसिज पांडेय उन्हे लिपट तक छोड़ने आती है तो उनकी ब्रेसियर्स के दोनों स्ट्रैप पीठ पर ब्लाउज के बहुत नीचे तक झूल रहे होते है और स्तन ब्लाउज से नीचे पेट तक लटक

आए होते हैं। सब लोग अपने-अपने फ्लैटों से मिसिज पांडेय को देखकर इंजाय करते है और मिसिज पाडेय नीचे घसती हुई लिफ्ट की ओर देखकर हाथ हिलाती हैं—टा टा !...इस विषय में मिसिज पाडेय से कोई कुछ नहीं पूछता। पर अपनी ओर से सभी इस दृश्य के कारण-स्वरूप कोई-न-कोई कहानी सुना देते हैं। नीचे वाली मिसिज दास का कथन है कि मिसिज पांडेय लेट राइजर हैं। पांडेय साहब जब आफिस जाने लगते हैं तो बेचारी सीधे बिस्तर से उठकर या बिस्तर सहित ही लिफ्ट तक आ जाती हैं। कपड़े ठीक करने का समय ही नहीं होता।...मिसिज शर्मा इस बात को नहीं मानती। उनका विचार है कि मिसिज पाडेय बच्चे को फीड करती-करती पति को सी-ऑफ करने के लिए आ जाती हैं। पर कौन जाने आफिस जाने से पहले खुद पांडेय साहब ही फीड लेते हों। बेबीफूड की कमी आखिर वयस्क लोगों के कारण ही हो गयी है इस देश में।" (नयी कहानियां, हास्य व्यंग्य विशेषांक, अगस्त '६६)

लेखक द्वारा प्रस्तुत यह वर्णन काफी अशिष्ट कहा जा सकता है। एक संभ्रान्त महिला के बारे में इस प्रकार की नुक्ता-चीनी करवाना कहां की शिष्टता है ? लेकिन व्यंग्यकार करे क्या ? अशिष्ट तो है मिसिज पांडेय का अपने पति को सी-ऑफ करने का ढंग। इस अशिष्ट ढंग पर कोई शिष्ट टिप्पणी कैसे हो सकती है कि विसंगति उजागर भी हो जाय, यह कोई मुझे बता दे। व्यंग्यकार को अशिष्टता के निवारण के लिए ही अशिष्टता पर उतरना पड़ता है। यह उसका शौक नहीं, बहुत कुछ उसकी मजबूरी भी है। जो इस बात को नहीं समझते वे व्यंग्यकार की मुश्किल भी नहीं समझते। माओ त्सेतुंग का जो नीति वाक्य है कि धुर दक्षिण को ठीक करने के लिए धुर वाम होना जरूरी है, उसे व्यंग्यकार को भी मानना पड़ता है। जब आप अशिष्ट आचरण करते हैं तो अशिष्ट नहीं हैं लेकिन जब कोई आपकी अशिष्टता पर उंगली उठाता है तो आप घबरा उठते हैं और नैतिकता की दुहाई देकर शिष्टता की मांग करने लगते हैं। यह कितना स्वार्थी तरीका है, इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।

हिन्दी में सामान्य साहित्यिक भाषा से अलग व्यंग्य-भाषा का कोई अलग स्वरूप उठा-उभरा नहीं है। लेकिन उसके आसार जरूर नजर

आने लगे हैं। वैसे आज की स्थिति को देखते हुए यह जरूरी है कि भाषा फूलों-पत्ती वाली न रह करके बिल्कुल लड़ाकू मिजाज वाली बन जाए। लेकिन ऐसी सामान्य साहित्यिक भाषा के बीच भी व्यंग्य-भाषा अवांगार्ड अर्थात् अग्रगामी दस्ते की तरह होनी चाहिए। तभी व्यंग्य का चरित्र भी उठे-उभरेगा और उसे कथनी और करनी में सफलता भी मिलेगी।

व्यंग्यतन्त्र : एक व्याख्या

मैंने अपने उपन्यास 'एक उलूक कथा' को एक व्यग्यतंत्र कहा है। यह पंचतंत्र के वजन पर गढ़ा गया शब्द माना जा सकता है। पंचतंत्र और व्यंग्यतंत्र के कथा-शिल्प में क्या प्रत्यक्ष समानताएं है, या ढूंढ़ी जा सकती हैं, इसका सक्षिप्त उल्लेख मैंने उपन्यास के 'मुखबंध' में किया है। लेकिन एक और कारण से भी मुझे पंचतंत्र और व्यंग्यतंत्र में समानता लक्षित होती है। वह है—वस्तुतत्व के विनियोजन के पीछे रचनाकार की सोद्देश्य दृष्टि !

पंचतंत्र की रचना अकारण नहीं हुई। उसकी रचना के पीछे स्पष्ट व्यावहारिक और सामाजिक उद्देश्य हैं। राजा के बिगड़े लड़कों को शिक्षा देने के लिए पंडित विष्णु शर्मा ने उसकी रचना की। इस रूप में उसे 'सीमिति उद्देश्य वाली रचना कह सकते हैं। लेकिन क्या वह केवल कुछ बिगड़े राजपुत्रों की शिक्षा के लिए लिखी गयी थी? वह तो उस समय के सभी बिगड़े युवकों और सामाजिकों के लिए लिखी गयी एक अद्वितीय कथा-कृति है।

पंडित विष्णु शर्मा को यह मुगालता कभी नहीं रहा कि उनकी कृति कालिदास, भवभूति या बाणभट्ट की कोटि की साहित्यिक रचना मानी जायेगी। पंचतंत्र में शिल्प-कौशल और कथात्मकता का सुन्दर नियोजन है। लेकिन उस नियोजन के पीछे किसी कलाकार या साहित्य स्रष्टा की दृष्टि न होकर व्यावहारिक शिक्षक या उपदेष्टा की दृष्टि है। विष्णु शर्मा शिल्प सचेष्ट जरूर हैं पर एक लेखक या रचनाकार के रूप में नही, बल्कि एक शिक्षक या उपदेशक के रूप में। पंचतंत्र के पढने से स्पष्ट हो जाता है कि ग्रंथकार अपनी एक अपेक्षाकृत छोटी और सामान्य भूमिका लेकर चला

है और उसने शिल्प, कौशल और कथात्मकता के नाम पर जो कुछ रचा या सिरजा है वह उसी भूमिका को मद्देनजर रखते हुए। लेकिन ऐसा करते हुए भी वह कितनी दूर तक सफल हुआ है यह हम आज इतने वर्षों के बाद, अच्छी तरह जान गये है। आज विष्णु शर्मा की यह रचना मेघदूत, उत्तर रामचरितम् और कादम्बरी से कम लोकोपयोगी या लोकप्रिय नहीं है। लोकोपयोगिता की दृष्टि से तो इसे बीस ही कह सकते हैं, उन्नीस नही यद्यपि तब इसके रचयिता ने इसे द्वितीय कोटि की रचना मानकर ही लिखा होगा तथापि वह कालान्तर में द्वितीय कोटि की रचना न रही, अद्वितीय कोटि की रचना हो गयी।

व्यंग्य या व्यग्यतंत्र के पीछे भी यही सामान्य सामाजिक उद्देश्य दृष्टि काम करती है। व्यंग्यकार भी एक सीमित भूमिका को लेकर कार्यारम्भ करता है। लेखक के रूप में वह कोई अद्वितीय कलाकृति लिख रहा है जो कलात्मक और साहित्यिक मानदडो पर पूरी की पूरी खरी उतरेगी यह वह कभी नहीं सोचता। जो इस दृष्टि से साहित्य रचना के क्षेत्र में प्रवेश करता है उसके लिए महाकाव्य या उपन्यास आदि साहित्य रूप हैं। इनमें वह अपनी किस्मत आजमा सकता है।

व्यंग्यकार तो अपने समय और समाज की कुछ मामूली खटकने वाली बातों और असंगतियों को लेकर चलता है। इस सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध अमरीकी लेखक जेम्स थर्बर की ये पंक्तिया प्रासंगिक हैं—"व्यंग्य-लेखक. साहित्य रूपी कुर्सी के किनारे ही बैठे रहते हैं। जिन्दगी रूपी मकान मे इस ख्याल के साथ जीते हैं कि उन्हें अभी उठकर चल देना है। वे वहां घर का-सा महसूस नहीं करते किसी बड़े उपन्यास या किसी भी उपन्यास को लिखने में उन्हे डर रहता है कि वे खयालात की ऊंची उड़ान में अपने को खो न बैठें और इसलिए वे अपने दुस्साहसों के छोटे-छोटे किस्से ही बयान करते रहते हैं क्योकि वे उनमे इतनी गहराई तक नहीं जाते कि फिर निकल ही न सकें।...उनका दिमागी ईजादों के छोटे-छोटे पहिये मायूसी के सधे हाथों से घुमाये जाते हैं।...वह ज्यादातर छोटी-छोटी बातों के बारे मे बोलता है और बड़ी घटनाओं के बारे में मौन रहता है। व्यंग्य-लेखक का वक्त न तो लिपमैन का है, न स्टुआर्ट चेस का और

न प्रोफेसर आइंस्टीन का। यह तो उसका अपना ही वक्त है जो उसकी अपनी तकलीफों और उलझनों के दायरे में बंधा है जिसमें उसका अपना हाजमा, उसकी अपनी मोटर का एक्सल छह या आठ इसानों या दो-तीन मकानों में उसके अपने बेतरतीब रिश्ते ज्यादा अहमियत रखते है बनिस्वत इसके कि दुनिया मेंक्या हो रहा है।" (नयी कहानिया, हास्य-व्यग्य विशेषाक पृ. १३५, अगस्त, १९६६)। यह लम्बा उद्धरण एक आधुनिक पाश्चात्य लेखक की विचार रचना से है इसलिए इसमें सामूहिकता की अपेक्षा निजता की भावना ज्यादा है। यदि हम उसे बाद कर दें तो इससे व्यंग्यकार की सामान्य भूमिका अच्छी तरह से स्पष्ट है।

व्यंग्यकार अपने समय का सबसे ज्यादा सीधा-सादा, पर साथ ही ज्यादा प्रामाणिक प्रवक्ता होता है। वह एक साहित्यकार की भांति शैली का छल-छद्म या ताम-झाम नही निभा सकता। उसे यह सुविधा नही होती। यह उसकी ठाट-बाट या लफ्फाजी कही जायेगी। उसके सामने पाठकों का विशेष वर्ग 'सहृदय समुदाय' न होकर समाज का सामान्य वर्ग, जैसे बिगडे लोग या मध्यवर्ग के युवक या उस जैसे लोग, ही होते है। ये न केवल बौद्धिक दृष्टि से सामान्य होते हैं वरन् बोध और रुचि की दृष्टि से भी सामान्य कहे जा सकते है।

रोचकता ऐसे सामान्य पाठकों की पहली माग होती है। इसलिए व्यंग्यकार शिल्प सबंधी जो प्रयोग करता है। वह इसी रोचकता की अभिवृद्धि के लिए। यदि रचना या कथा रोचक नही है तो ऐसे पाठक उसे तुरत रिजेक्ट कर देंगे यह रोचकता बहुधा नवीनता के कारण भी आती है इसलिए नवीन प्रयोग द्वारा रोचकता की सिद्धि व्यंग्यकार का इष्ट है। इसलिए चाहे पचतत्र का रचनाकार हो या व्यग्यतत्रक। लेखक, रोचकता और नवीनता उनकी पहली आवश्यकता है। लेकिन यह साधन ही है, साध्य नही।

पंचतत्रकार और व्यग्यकार दोनों जानते हैं कि उनका मूल उद्देश्य बिगडे लोगों को सही रास्ते पर लाना है, उनका ज्ञान-चक्षु खोलना है, उनका बोध और विवेक विकसित करना है। यह एक प्रकार से असाहित्यिक और अकलात्मक कार्य भी कहा जा सकता है। लेकिन ऐसा होते

हुए भी वह इस पुनीत कार्य में अपनी इच्छा से प्रेरित और प्रवृत्त होता है। यह एक सामान्य कार्य है, समाज के बहुसंख्यक लोगों की दृष्टि से विशेष कार्य से ज्यादा उपादेय और आवश्यक है। आज के व्यंग्यकार को भी यह बात समझनी होगी। उसे झूठे मुगालतों से दूर रहकर व्यंग्य-रचना लिखनी है या व्यंग्य का एक सही तंत्र विकसित करना है। यदि राग-दरबारी के लेखक को लेखक या रचनाकार के रूप में स्वीकृति और एकादमी पुरस्कार मिल गया तो कोई जरूरी नहीं है कि सभी व्यंग्य-लेखकों को ऐसी स्वीकृति और पुरस्कार मिले ही, यह तो एक आकस्मिक घटना भी हो सकती है।

पंचतंत्र और व्यग्यतंत्र मे सामान्यता, सोद्देश्यता और लोकोपयोगी शिल्प की समानता को देखते हुए यही इष्ट है कि आज के व्यंग्यकार भी पुराने रचना-आदर्शों से कुछ प्रेरणा लें।

परिशिष्ट

समाजवादी देशों में व्यंग्य : एक पत्र

प्रिय भाई,

तुम्हारा पत्र मिला। 'व्यंग्य क्या, व्यंग्य क्यों' विषयक प्रश्नावली में प्रश्न संख्या ७, ८, ९ असंगत नही है। प्रतिबद्ध लेखक को व्यंग्य लिखने में वहां कठिनाई हो सकती है जहा प्रतिबद्धता भयावह रूप मे उपस्थित है। यदि प्रतिबद्धता का अर्थ आप कलाकार की प्रतिबद्धता लेते है तब तो ठीक। लेकिन यदि आप उसका अर्थ राजनीतिक प्रतिबद्धता लेते है तो आपके केवल व्यंग्य ही क्यों, कुछ भी लिखने की, उतनी आजादी नही रहती। मैं यह बात नही समझ पाता कि कभी-कभी लेखक का लिखना जुर्म कैसे हो जाता है और उस पर मुकदमे कैसे चलाये जाते हैं और उन्हें सजा कैसे दी जाती है। एक अनुदारबंद समाज मे यह असहनशीलता हो सकती है। जिस समाज मे ऐसी असहनशीलता है वहां तो व्यंग्य लिखने के और भी अवसर हैं लेकिन इसके लिए व्यंग्यकार का व्यक्तित्व और चरित्र होना चाहिए।

व्यंग्य वास्तव में असाधारण सहनशीलता और असाधारण असहनशीलता का संयुक्त परिणाम है। प्रतिबद्ध कलाकार जैसे प्रतिबद्धता से इतर पडने वाली असगतियों को नही सहन कर पाता वैसे ही प्रतिबद्धता की खामियों को भी बर्दाश्त करने से इन्कार कर सकता है। वहा किसी प्रकार का भय अथवा वर्जना उसे स्वाभाविक रचना कर्म से विमुख नही कर सकते। इसी अर्थ में मेरा ख्याल है कि व्यंग्यकार अपना मोर्चा हर तरफ खोलता है। और तो और उसका एक मोर्चा खुद अपने खिलाफ होता है या होना चाहिए। और जो खुद को भी नही बख्शता वह अपने लोगों, मतों और विचारो को कैसे बख्शेगा।

मैं इस मुगालते मे कभी नहीं रहता कि समाजवाद आने से दुनिया बिल्कुल पाक-साफ हो जायगी, तब कोई समस्या ही नही रहेगी। यह जरूर है कि संभव समाज व्यवस्थाओं में समाजवादी व्यवस्था अपेक्षाकृत एक अच्छी समाज व्यवस्था है। कम-से-कम बहुसंख्यक लोगों की दृष्टि से तो जरूर ही। लेकिन श्रेष्ठ कलाकारों और मनीषियों को भी उससे पूर्ण संतोष हो जायगा, कि उन्हे कही भी भयानक असंगतियां नही दिखाई देंगी, यह मैं नही मानता। और जो कुछ थोड़े से कलाकार और कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि और अद्वितीय संवेदनशीलता से देखता और अनुभव करता है उसे समाज तक न पहुंचाये तो यह एक प्रकार की सामाजिक गद्दारी है। इसलिए मेरा ख्याल है कि व्यग्य बराबर लिखे जा सकते है।

अब तो कई समाजवादी देशों में भी व्यंग्य के लिए भी स्वाभाविक और मनोरंजक स्थितियां देखी जा रही हैं। इस सिलसिले मे बडे समाजवादी देशों की अपेक्षा छोटे समाजवादी देशों की ओर ध्यान देना ज्यादा जरूरी है क्योंकि वहा अपेक्षाकृत ज्यादा खुलापन होने से व्यंग्य के लिए अधिक अवसर और गुंजाइश है। उदाहरण के लिए चेकोस्लोवाकिया के एक लेखक इवान वेस्कोचिल को लिया जा सकता है। ये अत्यंत प्रयोगधर्मी लेखक हैं। इनकी तर्कहीन, अर्थहीन, और ऊपर से ऊल-जलूल दिखने वाली कहानियों में जो पैना व्यग्य है वह आखिर क्यो है ? ये अपने नाटकों को 'स्टुपिड ड्रामा' क्यों कहते हैं ? ऐसे नाटकों मे आखिर होता क्या है ? ऐसी रचना मे एक अद्भुत असहनशीलता देखी जा सकती है। यह असहनशीलता गुस्सा नही, व्यंग्य उभारती है। ऐसा व्यग्य जो अर्थहीन असंगतियों की जमीन पर फूलता-फलता और फैलता है। इसी सिलसिले में वात्सलाव दावेल के नाटक 'गार्डन पार्टी' का उल्लेख किया जा सकता है।

अद्भुत सहनशीलता और असहनशीलता के कारण केवल लेखन में ही नही साधारण जन-जीवन मे भी व्यंग्य के असर देखे जा सकते है। चेकोस्लोवाकिया को एक बार रूसियो ने टैंकों से रौंदा था, यह सभी जानते हैं। सैनिक सामर्थ्य को देखते हुए चेक लोगो को काफी भयभीत हो जाना चाहिए था—विशेषकर इसलिए भी कि इस आतंकमय स्थिति में वे निपट अकेले थे। कोई राष्ट्र उनकी मदद को नही आ सकता था। लेकिन

चेक लोगों ने इस स्थिति के प्रति एक अद्‌भुत रवैया अपनाया। वे टैंकों से घिरे होने पर भी सड़कों पर आकर विरोध प्रदर्शन कर रहे थे। उनकी ऐसी हरकतों को रूसी सिपाही ताज्जुब में आकर देख रहे थे। उसके हाथों में छोटे या बड़े हथियार न थे। आखों में गुस्सा न था, था आखो मे पानी और चेहरे पर नफरत। इसलिए जब कुछ ही दिनों बाद, चेक टीम ने रूसी टीम को हॉकी मैच में ४ : २ के हिसाब से हराया तो चेक लोगो ने दीवारों पर नारे लिखे—"रूसी इसलिए हारे कि मैच मे टैंको का इस्तेमाल न कर सके।" केवल यही नही तब पूरे राष्ट्र ने कितने ही महीन चुभते हुए नारों का आविष्कार किया।

कोई कह सकता है कि ऐसे मौके पर चेक जनता को कारगर विरोध करना चाहिए था। ऐसा न होने पर बदतर स्थिति हो सकती थी। लेकिन ऐसे मौके पर चेक लोगो का जवाब था—'हमें सहन करना होगा। वे तो चाहते ही है कि हम कुछ करें। वे फिर और दमन करेंगे। इसलिए हम कुछ नही करेंगे। ऐसे ही विरोध करते रहेंगे।' यह दृष्टिकोण भी वास्तविकता-बोध का ही परिणाम है। व्यग्य के लिए यह वास्तविकता-बोध जरूरी है।

व्यंग्य गुस्से का अहिंसक रूप है। वह लाचारी नही शक्ति है। व्यग्य कोई अदना औजार नही है कि सब कोई इसका इस्तेमाल कर सके। इसके इस्तेमाल का एक अपना हुनर है, जो उससे वाकिफ है वह विरूप से विरूप स्थितियों में भी इसका कारगर इस्तेमाल कर सकता है।—ऐसा इस्ते-माल कि एक व्यक्ति ही नहीं, कुछ लोग ही नही, पूरा का पूरा राष्ट्र झन-झनाकर रह जा सकता है। जैसा कि ऊपर के चेक नारे ने रूसियो को झन-झनाया होगा। खेल में हारना-जीतना एक मामूली बात है। पर हार-जीत को देश के ऐतिहासिक राजनीतिक सदर्भ से इस प्रकार जोडकर ऐसा पैना व्यंग्य करना, हाथ में बदूक उठाकर गोली दागने से कहीं ज्यादा कारगर है। व्यंग्य का यह बुलेट ऐसा है कि कही गहरे मे बराबर धसा रहेगा और कसक पैदा करता रहेगा। इसे ऑपरेशन करके निकाला नही जा सकता, इसकी कोई मरहम पट्टी नही की जा सकती।

ये चंद बातें जो मैं लिख रहा हूं जरूरी नही कि आप मान ही लें। लेकिन इस दिशा मे आप सोचिये जरूर। सोचने पर यदि कुछ सार्थक हाथ

लगे तो उससे अवगत जरूर कराइये। आशा है आप प्रसन्न हैं। पता दीजिएगा।

—डॉ० श्याम सुन्दर घोष

आपत्काल और व्यंग्य

प्यारे आलोचक,

तुम्हारे कई पत्र मिले। लेकिन मुझसे कुछ उत्तर देते न बन पड़ा। इधर मुझे अपने आपसे बहुत डर लगने लगा है। अपनी अब तक की जिन्दगी में मैं इतना सम्हल-सम्हलकर कभी नही चला जितना कि इन दिनों चल रहा हूं। अब तो हर चीज मुझे डराने लगी है। सरकार तो काले कानूनों से डराती ही है अपनी जुबान और कलम भी बेहद डराने लगी है।

तुम तो जानते ही हो कि मैंने अपनी मर्जी से फ्रीलांसर की जिन्दगी चुनी। लिखकर अपने देश भारत मे जीविका निर्वाह मुश्किल है, यह जानते हुए भी खतरा मोल लिया। लेकिन भला हो व्यंग्य का कि कुछ गुजारा हो जाता था। मैंने कभी यह ठीक ही लिखा था कि इधर हिन्दी का हास्य-व्यग्य बड़ी तेजी से उठा-उभरा है। आजादी के बाद हास्य-व्यग्य का इस प्रकार तेजी से उठना-उभरना स्वाभाविक भी है। एक जगह उर्दू के प्रसिद्ध व्यंग्यकार श्री कन्हैया लाल कपूर ने कहा है— "व्यग्य का पौधा तब पनपता है जब लोगों में व्यग्य को बर्दाश्त करने का शऊर हो यानी जब लोग व्यंग्यकारों को अपना दुश्मन नही बल्कि दोस्त समझें।" व्यंग्य के फूलने-फलने के लिए यह शर्त तो बाद की चीज है, पहले तो यही अपेक्षित है कि व्यंग्यकार अपनी निर्बाध अभिव्यक्ति कर सके। उसे किसी प्रकार के भय या वर्जना का बोध न हो। ऐसी निर्बाध अभिव्यक्ति किसी

लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के अंतर्गत ही सम्भव है, क्योंकि वहां अभिव्यक्ति पर अंकुश नही होता। यह सुविधा पराधीन या विचारशासित देश के व्यंग्यकारों को नही मिल पाती। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सोचना और कहना उचित है कि "स्वतंत्र भारत मे हास्य-व्यंग्य का और अधिक विकास होगा।" मुझे यह भविष्यवाणी किये मुश्किल से दो-चार वर्ष हुए हैं कि आसार बिल्कुल भिन्न मालूम होने लगे है।

पहले तो हिन्दी व्यग्य के व्यवसायीकरण की शुरुआत हुई। और इस प्रकार उठते-उभरते साहित्य-रूप का बड़ा 'हसीन कत्ल' हुआ। और फिर यह आपत्काल आया। मेरे जानते इस आपत्कालीन घोषणा का सबसे ज्यादा असर व्यग्य पर होगा। मैंने पहले भी व्यंग्य के फैशनेबुल होने की बात को लेकर अपनी चिन्ता व्यक्त की है। लेकिन आपात्काल की घोषणा के बाद तो अब व्यग्य के लिए वही एक क्षेत्र रह गया है। अब आप सत्ता पर चोट नही कर सकते, नेताओं की खबर नही ले सकते, अफसरो को खरी खोटी नही सुना सकते अर्थात् आक्रामक व्यग्य लिखने मे आज बड़ा खतरा है। इसलिए अब व्यंग्यकारों को झख मारकर हीजड़ा व्यग्य लिखना होगा। इसे आप गाधीवादियों की भाषा मे अहिंसक व्यग्य भी कह लीजिये। लेकिन क्या व्यंग्य अहिंसक होता है? मेरे विचार से तो उसके मूल मे हिंसा होती है। हिंसा न हो तो व्यंग्य में तीखापन आये ही नही। बिना तीखेपन के व्यग्य की कल्पना कुछ वैसी ही है जैसे बिना लौ की आग की कल्पना।

इधर हिन्दी में व्यग्य को बहुत से लोगों ने कैरियर के रूप में अपना लिया था। मैं साहित्यकार का कैरियरिस्ट हो जाना बुरा नही समझता। इस प्रकार साहित्य लिखने का एक सिलसिला बन जाता है और लिखते-लिखते शैली मंज जाती है। बहुत लिखने मे जहा रद्दी लिखने की संभावना बढ़ती है वही अच्छा लिखने की सम्भावना भी कम नही होती। इधर हिन्दी के व्यंग्यकार नियमित 'कालमिस्ट' हो गये थे और इस बहाने बहुत कुछ अच्छा भी लिख रहे थे। ऐसे लेखन से उनका गुज़र-बसर भी हो रहा था। अब ऐसे लोग क्या लिखना बन्द कर देंगे? क्या आपत्काल की घोषणा हो जाने से सम्पादक व्यग्य कालमों को स्थगित कर देंगे? नही, ऐसा तो नहीं होगा। सम्पादक अपनी कायरता जाहिर करने से तो रहे। पाठको

को व्यंग्य पढ़ने का चस्का लग गया है इसलिए व्यंग्य के कालम पत्र-पत्रिकाओं में बदस्तूर कायम रहेंगे। लेकिन उनका ढर्रा, टोन और मिजाज बदल जायेंगे। अब व्यंग्य के टारजेट दूसरे हो जायेंगे। बड़े शातिर लोगों की जगह अब मामूली मीडियाकर या निरीह लोगों पर व्यंग्य होगा। इसे आप 'व्यंग्याभास' कहिये। जब उपयुक्त विषय, पात्र, घटना और स्थिति को व्यंग्य का विषय न बनाकर अनुपयुक्त विषय, पात्र, घटना और स्थिति को व्यंग्य का विषय बनाया जायगा तो वह व्यंग्य न होकर व्यंग्य का मुखौटा होगा। अब हिन्दी में व्यंग्य के नाम पर अधिकतर कैरिकेचर आयेगा।

मैंने कभी चिन्ता व्यक्त की थी कि क्या व्यंग्य हिन्दी में आते-आते रह जायेगा? मुझे अब अपनी यह आशंका बहुत ठीक मालूम होती है। एक तो भारतीय चरित्र मे ठकुरसुहाती वैसे भी बहुत अधिक है। हम तुरन्त ही पुराना नीति वचन दुहराने लगते हैं—न ब्रूयात सत्य अप्रियम्! यह रवैया व्यंग्य के लिए बहुत हानिकारक है। हिन्दी व्यंग्य में जो आक्रामकता नहीं आ पा रही उसके पीछे भारतीय चरित्र और मनोभाव हैं।

और अब तो भारतीय जन के चरित्र मे एक डिक्टेटराना तेवर भी आता जा रहा है। हर कोई जहा जिस रूप में है एक छोटा-मोटा डिक्टेटर ही हो जाना चाहता है। वह दूसरों को मुंह ही नहीं खोलने देना चाहता। जिसको जितनी शक्ति और अवसर है वह उतनी ही सख्ती और मुस्तैदी से इस बात की कोशिश में लगा है कि दूसरों की जुबान बन्द कर दे, उसके मत और विचार को कुचल दे। ऐसी स्थिति में व्यंग्य का क्या भविष्य हो सकता है, यह गौर करने की बात है।

मैंने कभी व्यंग्यकार के चरित्र की भी बात कही थी। मेरा सवाल था, क्या केवल व्यंग्य के चरित्र का होना ही काफी है या व्यंग्यकार का भी चरित्र होना चाहिए? अब यह प्रश्न खुद मेरी दृष्टि में हास्यास्पद और अप्रासंगिक हो उठा है। अब तो व्यंग्य लिखने से सीधे जेल जाने की नौबत है। आज मामले को न्यायालय मे ले जाकर संघर्ष करने की भी सुविधा नहीं है। लोग यह जेल-यात्रा स्वीकार भी कर लें लेकिन अब तो उसमें भी गौरव नहीं रहने दिया गया है। कोई आश्चर्य नहीं कि लेखकों और

व्यंग्यकारों को गुंडा, तस्कर या समाज-विरोधी कहकर बन्द कर दिया जाये। आज सही बात करने वालो को इतना हतोत्साहित और भयभीत किया जा रहा है कि सही की जगह गलत ही कथनीय और करनीय हो गया है।

वैसे तो अपने देश भारत मे खुशामदियों और चापलूसों का सदा से बोलबाला रहा है। यह व्यक्ति और समाज पर सामती संस्कारों का प्रभाव है। लेकिन आजादी और जनतंत्र की स्थापना के इतने वर्षो बाद भी ऐसे लोगों की जमात जिस प्रकार फूल-फल और फैल रही है वह चौकाने और चिंतित करने वाली है। लगता है अपने देश भारत मे रुचि और बोध का पहिया बिल्कुल उल्टा घूम रहा है। हम प्रगति के नाम पर निरन्तर पीछे चले जा रहे हैं और इसे ही प्रगति मानकर गर्व करते और चीखते-चिल्लाते है। और यह दुर्गुण सबसे अधिक पढ़े-लिखे लोगों मे घर करता जा रहा है। अपने देश भारत का पढ़ा-लिखा वर्ग आज जितना सकुचित, स्वार्थी और मक्कार है उतना शायद ही कभी कोई और वर्ग रहा हो। वह समझदारी के नाम पर ऐसी बेसिर-पैर की बातें कहेगा कि आपको उसके दिवालियापन पर हंसी आयेगी, दया होगी और कभी-कभी तो इन सबसे बढकर गुस्सा आयेगा।

अपने समाज मे आज व्यंग्य लिखना वक्त और शक्ति जाया करना भी है। लोग इतनी मोटी खाल के हैं कि चोट खाकर भी 'हें-हें' करते रहते हैं। मेरे विचार से व्यंग्य ऐसे बेशरम लोगों के लिए नही है। हया कुछ रहे तो व्यंग्य भी काम करे। बेहयाओं के बीच जाकर व्यंग्य भी सिर धुनता और पछताता है। जैसे आसिक के सामने कवित्व निवेदन व्यर्थ है वैसे ही बेशरम लोगों के बीच व्यंग्य बेकार और व्यर्थ होता है। जिस समाज में लोगों को आलोचना बर्दाश्त न हो और लोग उससे कुछ सीखने और सुधरने की प्रेरणा न लें, बदले में लाठी लेकर सिर तोड़ने के लिए खड़े हो जायें वहां व्यंग्य क्या चलेगा?

व्यग्य तो कुनैन की टिकिया है। यहां तो लोग होम्योपैथी दवाएं खाने के लिए भी तैयार नही हैं। वे अपने को बीमार मानते ही नही। यह बीमारी से बढकर पागलपन के लक्षण हैं। बीमारी का इलाज तो फिर

भी आसानी से हो सकता है लेकिन पागलपन तो ज्यादा कठिन बीमारी है। इसके लिए तो बिजली के झटके की जरूरत है। भारतीय समाज मे व्यंग्य को लोग जिस प्रकार अनदेखा कर रहे थे उसे देखते हुए बिजली के झटके की सख्त जरूरत महसूस की जा रही थी। सम्भव है व्यंग्यकार लेखनी और चरित्र से यह झटका देता भी। लेकिन तभी इस आपत्काल की घोषणा ने इसे कठिन कर दिया।

पत्र काफी लम्बा खिंच गया है। ऐसा होगा यह सोचकर ही मैं उत्तर नही देना चाह रहा था। वैसे तो किसी भी लेखक का अपनी लेखनी पर वश नही होता। लेखनी वाणी का प्रतिरूप है और वह इतनी आजाद और उन्मुक्त होती है कि लेखक को मनचाहे रास्ते ले जाती है। लेकिन व्यंग्यकार की लेखनी तो और भी निरकुश और मोह-छोह से अलग, आजाद और स्वच्छन्द होती है।

व्यंग्यकार की लेखनी भरी हुई पिस्तौल है जो जब हाथ में आ जाती है तो घोड़ा दबते देर नही होती। तब गोली किस पर पड़ेगी और कौन घायल होगा यह कहना मुश्किल है। तब यदि व्यंग्यकार बेईमानी करने की कोशिश करेगा तो कोई असम्भव नहीं कि गोली उसकी बदनीयत को भाप कर उसे ही घायल कर दे। इसलिए मैं तो अच्छा यही समझता हूं कि प्रतिकूल परिस्थिति में लेखनी हाथ में ली ही नही जाय। लेखनी से बढकर बेवफा और बेमुरौव्वत और कोई चीज नही होती। इसे न भूख लगती है और न प्यास। इसके न बाल हैं और न बच्चे। इसका न कोई वर्तमान होता है और न कोई भविष्य। वह तो लेखनी है—फकत लेखनी।

लेकिन एक लेखक अपनी लेखनी से इतनी दूर और इतना असम्पृक्त आखिर कब तक रह सकता है? वह तो उसकी प्रेयसी है—दिलरुबा और दिलदार, उसकी नियति और उसका भवितव्य। वह उसे जन्नत भी ले जाती है और जहन्नुम भी। सो आज मैंने भी लेखनी उठा ली है और सिर पर कफन लपेटे उसके साथ चल पड़ा हूं। आशा करता हूं लोगों की शुभ-कामनाएं जरूर मेरे साथ होंगी।

तुम्हारे दिन कैसे कट रहे हैं, लिखना।

—व्यंग्यकार

सेवामे

श्री राधाकृष्ण, रांची।

आदरणीय बंधु,

अब आपको व्यंग्य की ओर से वह वकालत नही करनी है जिसके लिए मैं बार-बार जोर दे रहा था। अच्छे वकीलों के अभाव में कभी-कभी छुटभैये वकीलों से भी काम चल जाता है और कभी-कभी तो मुख्तार भी यह काम बखूबी कर लेते हैं लेकिन भारतीय न्यायालयों ने गरीब मुवक्किल की इस कठिनाई को न समझकर मुख्तारी प्रथा उठा दी है। अब तो सभी एडवोकेट हैं और उनकी बड़ी-बडी फीस है। इसलिए अब कुछ मुश्किल को खुद अपनी बहस करनी होती है। वह बहस मैं पूरी कर चुका हूं। यदि कभी किताब छपी तो आपको देखने का मौका मिलेगा। इतने दिनों तक आपको जो खामखवाह् जोर किया इसके लिए कृपया मुआफ फरमायें।

आप विश्वास करें, मैं रंज कतई नही हूं। हां, अपनी स्थिति का ठीक-ठीक बोध हो गया है।

—श्याम सुन्दर

प्रिय बन्धु,

पत्र मिला। बांदा में जो प्रश्नावली नोट की थी वह भी उपलब्ध है। हर प्रश्न पर ढंग से विचार दे पाना मेरे लिए सम्भव नही, फिर भी सारे प्रश्नों को सामने रखकर यत्किंचित्।

बांदा में जब आपने लिखने को कहा था और प्रश्नावली नोट कराई थी तब बड़ा उत्साह जगा था। (फंसा एक उल्लू आखिर मुझ नाचीज से भी रचना मांगने वाला एक [एक ही सही] सम्पादक पैदा हो गया! जय शंकर!) प्रश्नावली नोट कर रहा था उसी समय प्लैन किया था, शुरू यों

कल्या—मन्नू भण्डारी ने कहीं कहा है कि व्यंग्य आज की सबसे सार्थक विधा है। सचमुच उस समय यह मान भी रहा था। आज अपने परिवेश में बैठकर यह पत्र लिख रहा हूं तो यों शुरू करने का मन नहीं होता। इस कथन पर से विश्वास भी डगमगा गया है। पर यह प्रसंग आगे।

व्यंग्य की मेरी एक पुस्तक प्रकाशित है। कभी-कभार अब भी एक-दो निबन्ध घसीट लेता हूं, उस पुस्तक के लिखे जाने का कारण याद करता हू तो लगता है कि छपने की सुविधा ने ही मुझसे वह कृति लिखवा ली। तब देश की परिस्थितियों ने मेरे भीतर व्यंग्यकार के बीज बोये थे, यह बखूबी याद पड़ता है। पर छपने का जुगाड़ न बैठ गया होता तो शायद मैं उपलब्धि तक न पहुच पाता। शुरू के तीन अश मैं उत्साह में लिख गया था जिन्हे स्वीकृत करने वाले सम्पादक ने उसके धारावाहिक प्रकाशन (निःशुल्क ही सही) की व्यवस्था कर ली और उन्ही के अनुरोध पर मैं किश्त-दर-किश्त लिखता चला गया। एक वर्ष चलाकर उन्होंने धारावाहिक प्रकाशन बन्द कर दिया और मेरा भी व्यंग्य-लेखन समाप्त हो गया।

व्यग्य अब नही लिख पाता या अब विचार क्लेश नहीं करते, ऐसा नही है। विचार तो बराबर आते हैं। लिखने के बदले गुनते-गुनते भूल जाने का अभ्यास स्वभाव बन गया है। तन आलस कर जाता है और उस आलस के लिए मन भीतर-भीतर अपने आप को प्रबोध भी लेता है—क्या होगा लिखकर? लिख-लिखकर कापियां जमा करते जाने से क्या लाभ? कोई मांगता-छापता तो है नही। इतने दिनो तक कलम-घिसाई करने के बावजूद मैं ऐसे जुगाड़ न बैठा सका कि मेरी लिखी चीजें छप जाया करें। किसी धर्मवीर भारती या शिवदान सिंह चौहान को मैं अपनी पुस्तक समर्पित करने की विडम्बना नही कर सका। (यों करता तो वे तरह देते ही, यह निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकता है?) बदकिस्मती से ऐसी सीमाओं के बीच रह रहा हूं कि किसी को कोई प्रतिदान नहीं दे सकता। इसलिए टिप्पस भिड़ाने की कोशिश करू भी तो कौन अहमक फसेगा? बारगेन के इस युग में ऐसा उल्लू कौन होगा (हैं दो-एक। एक रामावतार चेतन मिले थे। एक आप मिले।) जो यह जानते हुए भी कि प्रतिदान देने की औकात मेरी नहीं, मुझे वरदहस्त

से दान देता चला जायगा? टिप्पस की तो छोड़िए, प्रतिदान न दे सकने वाले के मोह-छोह की क्या दुर्गति होती है और निरर्थक श्रद्धा-ममता को महात्त्वाकांक्षी व्यक्ति किस प्रकार नजर-अन्दाज कर आगे निकल जाता है इसका उल्लेख मैं 'जै-जै काली जै-जै पैसा' के समर्पण पृष्ठ में कर चुका हूं और उसे आप पढ ही चुके है। ये स्थितियां व्यंग्य के आधार नही, करुणा के उत्पादक हैं, यह कहने न कहने से कोई फर्क नही पड़ता। स्थितिया हैं और रहेंगी ही।

रोजी-रोटी के चक्कर मे जिन स्थितियों में जीने को विवश हूं उसने मेरे अध्ययन को भी सकुचित कर रखा है। पढने का कोई क्रम नही रहता। जब जो मिल जाता है वही पढकर सन्तोष कर लेता हूं। कभी-कभी तो महीनो कुछ हाथ नही लगता और किसी अतिथि के छूट गए 'मनोहर कहानिया' के सत्यकथा विशेषांक का ही बार-बार पारायण करना पड जाता है। ('रोज' की नायिका का अखबार का पुराना टुकड़ा उठाकर सांझ के धुंधलके में पढते चले जाना-पढ़ते चले जाना याद आ रहा है।) गैर हिन्दी के व्यंग्य कभी-कभी अनुवाद रूप में ही कही देख पाता हू। हिन्दी के व्यग्यों में जब जो हाथ लग जाता है वही पढ लेता हूं। सिलसिले से कभी कुछ नही। इसलिए व्यंग्य के इतिहास-भूगोल, वर्तमान-भविष्य मंत्र-तंत्र पर कुछ कहने का अधिकारी व्यक्ति मैं अपने को नही मानता। यो भी लिखने में मेरी रुचि रही है, लेखन की सार्थकता के लिए दलील देने (गलथोथरी करने) मे नही, उसके लिए बहुत सारे लोग हैं। हिन्दी में रचनाकार से अधिक आलोचक पैदा हो रहे हैं। हर अध्यापक (देखिए, अध्यापक आप भी है। तिलमिलाइयेगा नही।) एक जन्मजात चिन्तक-आलोचक है, पता नही यह थ्योरी पियागोरस को क्यों नही सूझी थी।

व्यंग्य-लेखक का अपना एक चरित्र हो इस आग्रह का पक्षपाती हूं और उससे अन्यथा की स्थिति की कल्पना करता हू तो अपनी बोली की एक कहावत याद आ जाती है जो अक्सर मेरी मां बोला करती थी—"चालनी दुसलन पैला के, जिनका गांड़ में अपने सौ छेद।" हम सब छेद वाले न हों यह मेरा दुराग्रह नही है, दुनिया में यह सम्भव भी नहीं है पर यदि हम दूसरों का छेद गिनाने का बीड़ा उठाते है तो इतनी नैतिकता तो

हमे सीख ही लेनी चाहिए कि अपने सौ छेदों पर कॉर्क लगा लें। जो नैतिकता विरासत में नहीं मिलती उसे सीखकर भी प्राप्त न किया जाय, [illegible] सकती है।

[illegible] की सबसे सार्थक विधा है। [illegible] न को मैं मानता आ रहा था तो अचानक मेरा विश्वास डगमगा कैसे गया? हा, बन्धु! विश्वास सच ही डगमगा गया है। व्यंग्य की बात तो छोडिए, मेरी शंका और भी व्यापक हो उठी है। जीवन के परिप्रेक्ष्य मे मिला-मिलाकर सोचता हूं तो बार-बार शका उठती है कि क्या साहित्य की कोई भी विधा आज के लिए सार्थक है? मेरी शका के बीज साहित्य को देखकर नही, जीवन को देखकर अंकुरे है, मेरी दुनिया छोटी है, मैं छोटी जगह में रहता हूं पर जहा रहता हू वहा भी एक जीवन है और उस गलीज जीवन के रेशे-रेशे से मैं पिछले बीस वर्षों से परिचित हू। यहां रहकर भी मैं इसी गलीज जीवन का अनिवार्य अग नही हूं या ऐसा ही नही हूं, यह कहना तो एक मिथ्या दम्भ होगा। पर जो शुरू से देखता आ रहा हूं वह दिनोंदिन अगर बद से बदतर होता जा रहा है तो इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि जीवन के मैल को (थोडा-सा ही सही) साहित्य कभी काटता भी है? यदि नही तो साहित्य की सार्थकता क्या है? जीवन के लिए इसकी आवश्यकता ही क्या है? सिर्फ मिथ्या मनोविलास? और यदि मनोविलास ही तो व्यंग्य क्यो? परियों और राजा-रानियों की काल्पनिक कहानिया ही क्यों नही? वे तो निश्चित रूप से व्यग्य से अधिक मजा देती है।

आपको तो मालूम है, मैं सरकारी सेवा में हूं। पता नही, सरकारी सेवा वाले अन्य व्यग्य-लेखक (मसलन रवीन्द्र नाथ त्यागी) व्यग्य-लेखन कैसे निभा लेते हैं। मैं जब अपने आस-पास चारों ओर अनाचार, भ्रष्टाचार और फरेब का व्यापक व्यापार निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होते देखता हूं (और जिसे पिछले बीस वर्षों में मैंने बद से बदतर होते ही पाया है) तो मुझे सारा लेखन-व्यापार ही निरर्थक लगने लगता है। आप सलाह देंगे, मुझे खुलकर विरोध करना चाहिए। बन्धुवर, नक्कारखाने में तूती की आवाज उठाऊं तो इसके सिवा और क्या हश्र होगा कि पिटे हुए मोहरे

की तरह बिसात से बाहर कर दिया जाऊंगा। (फिर अपनी रोजी-रोटी का क्या होगा? तीन-तीन नाबालिग बच्चों का बाप हूं। अब्बाजान पैतृक सम्पत्ति के नाम पर अपनी दरिद्रता विरासत में छोड मरे थे।) यों, मैंने एक्सपेरिमेन्ट करके देखा नही है सो नही। अनेक बार अपने भ्रष्ट सह-कर्मियों के आमने-सामने बैठकर खुले शब्दों में गालियां दे-देकर उन्हें फटकारा है। फल कुछ नही निकला। मैं उनकी अकृपा का पात्र अवश्य बन गया। मेरी रोटी में काटे गडने लगे। स्वतंत्रता के बाद से विघटन का जो दौर चला है वह अभी तक क्लाइमेक्स पर नही पहुंचा। और नीचे, और नीचे, और नीचे···। पता नहीं प्रतिक्रिया कब शुरू होगी।

जो हमारे व्यंग्य के आलम्बन हैं उनकी चमडी बडी मोटी है। बन्धु! वहा कुछ चुभता ही नही। (यह झील, कुछ भी फेंकिए उठती नही इसमें लहर, यह एक मुर्दों का शहर—रामावतार त्यागी) व्यंग्य पढकर वे थेथ्यर की तरह 'ही-ही हंस देते हैं। फिर कल से अपनी वही पुरानी लीक पकड लेते हैं। मैंने हरि शकर परसाई का कॉलम पढकर उन व्यक्तियों को भी मजा लेते देखा है जिन जैसों का चरित्र उस निबन्ध मे उजागर रहता है। वे बलदतेन ही, पढकर तारीफ अवश्य करते हैं रचना की। मैंने अपने जिन सहकर्मियों को फटकारा था वे भी 'ही-ही' करते रहे थे। बाद मे कभी भी अपने ढंग से बाज नही आए।

ऐसे में साहित्यकार की क्या भूमिका हो? महादेवी वर्मा की पंक्ति कौंधती है—"कविता मेरे अवकाश के क्षणो के प्रतिबिम्ब हैं। जीवन को मैं वहा देना चाहती हू जहां उसकी आवश्यकता है।" पर तुरन्त 'लडाई' कहानी के नायक का अन्त याद आ जाता है। डरकर दुबक जाता हूं। बस, बात लौटकर वही की वही आ टिकती है—व्यंग्य की सार्थकता क्या है? पूरे लेखन की ही क्या सार्थकता है ऐसे में?

आप चाहें तो इस पत्र को ही अपने संकलन में शामिल कर लें। या, जैसा जंचे आपको। इससे अलग कुछ कहने की औकात नही है मेरी।

आशा है, सानन्द हैं।

—अभिन्न प्रवासी

प्रियवर घोष जी,

....

अब आपके व्यंग्य संबंधी प्रश्न । अवश्य ही प्रतिबद्ध व्यंग्यकार अधिक सार्थक होगा पर वह इतना प्रतिबद्ध न हो कि आत्म समालोचना में असमर्थ हो जाये । आनातोल, फ्रांस, बर्नार्ड शॉ पक्के प्रतिबद्ध थे । परशुराम और अकबर भी एक हद तक प्रतिबद्ध थे । हिन्दी मे उच्च कोटि का व्यंग्य साहित्य अभी नहीं आया । समाजवादी देशों मे अधिकाश लेखकों को लिखना नही आता । मैंने यह बात गत वर्ष नोवोस्ती (मास्को) के नेताओं को कहा था जबकि अंग्रेज, अमेरिकन गजब के लेखक हैं । इसका कारण समाजवाद नही, वरन् समाजवादी नौकरशाही है जो व्यापक दृष्टिकोण लेने मे असमर्थ है । हां, एक कारण यह भी हो सकता है कि समाजवादी समाज में व्यंग्य के लायक स्थितियों तथा व्यक्तियों की कमी है । हां, वहां नौकरशाही पर व्यंग्य है और हो सकता है । पर उच्चकोटि की ऐसी रचना मेरे देखने मे नहीं आई ।

— मन्मथनाथ गुप्त

प्रिय भाई,

आपके पत्र मिले । धन्यवाद !

आपके प्रश्नों के उत्तर क्रम से ही लिख रहा हूं ।

१. मुझसे यह न पूछिये कि व्यंग्य क्यों लिखे जाते हैं । मैं तो आपको केवल यह बता सकता हूं कि मैं व्यंग्य क्यों लिखता हूं । यह दूसरी बात है कि कहीं यह भी मान लेता हूं कि अन्य लोग भी उसी कारण से व्यंग्य लिखते होंगे ।

वस्तुतः जब कोई विकृति असंगति या वैसी ही कोई चीज़ देखता हूं तो मन मे सहज ही यह बात उठती है कि उस ओर इंगित कर दिया जाए,

बता दिया जाए, सुधार दिया जाए। पर यह सब करने में स्वयं को असमर्थ पाकर मन में संचित आक्रोश से मुक्ति पाने के लिए व्यंग्य लिखता हूं। मैं यह मानता हूं कि क्षोभ का अतिरेक ही व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता है।

२. व्यंग्य पैसे के लिए नहीं लिख पाता। पैसे का लालच मन में आक्रोश उत्पन्न नहीं करता कि व्यंग्य लिखा जाए। वैसे भी व्यंग्य छापकर, पैसा देने वाली कितनी पत्रिकाएं हैं? पिछले दिनों मेरे व्यंग्य, 'युवराज' 'प्रचेता', 'गंतव्य', 'लोक-संपर्क', 'कोशा', 'रंग', 'अमिता', 'संप्रेषण', 'वातायन', 'अणिमा', 'कृति-परिचय' 'सबोधन', 'एकात' और ऐसी ही अनेक अन्य छोटी पत्रिकाओं में छपे हैं या छपते रहते हैं—कौन पैसा देता है, इनमें से।

रोज़ी-रोटी के लिए नौकरी करता हूं। रोज़ी-रोटी के लिए हिंदी में लिखना—बहुत अच्छा चुनाव नहीं है।

३. व्यंग्य-लेखक का चरित्र होना चाहिए—साहित्यकार मात्र का चरित्र होना चाहिए (वैसे वह है नहीं) इसीलिए साहित्य जन-सामान्य को प्रभावित नहीं कर रहा। साहित्यकार जब तक 'संत' नहीं होगा जनता को प्रभावित नहीं करेगा। 'कलाकार' दस-बीस वर्षों से अधिक नहीं जीता। सबसे अधिक व्यंग्य सरकारी-भ्रष्टाचार तथा जनता की जड़ता पर होना चाहिए। व्यंग्यकार स्वयं ही अपने ऊपर काफी व्यंग्य कर लेता है।

४. व्यंग्य-भाषा, साहित्य-भाषा से अलग कैसे होगी? क्या व्यंग्य, साहित्य का अंग नहीं है? हां, व्यंग्य की भाषा, अन्य विधाओं की भाषा से कुछ पृथक् हो सकती है—अपनी तीक्ष्णता को लेकर। यह वैसे ही है जैसे कविता की भाषा कहानी की भाषा से कुछ अलग होती है।

५. जो हिंदी में है, वह अन्यत्र भी होगा—यह दूसरी बात है कि हिंदी की हर बात हमारे सामने है—दूसरी भाषाओं की चीज़ें हमारे पास छनकर आती हैं।

वैसे मुझे सर्वज्ञ होने का दावा नहीं है।

६. हिंदी-व्यंग्य की प्रगति को देखकर मैं उससे तनिक भी निराश

नहीं हूं। आप लोग व्यावसायिक व्यंग्य से चिढ़े हुए लगते हैं। उसके विषय में मैंने अलग से कुछ लिखा है—यह पटना से निकलने वाली पत्रिका 'व्यंग्य' के लिए है—आपको भी प्रतिलिपि भेज रहा हूं।

७. प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए सहज होता है। अपनी ओर से कुछ करने की स्थिति में अभी नहीं हूं।

अब एक प्रश्न मेरा है। आप मेरे इन उत्तरों का क्या करेंगे ?

ठीक होंगे !

—नरेन्द्र कोहली

व्यंग्य का चरित्र

□ डॉ० प्रभाकर माचवे

(१) व्यंग्य क्यों लिखे जाने शुरू हुए ?

कहना मुश्किल है कि पहला व्यंग्य कब और कैसे साहित्य में आया ? शृंगार और वीर रस तो सहज थे, प्रवृत्तिजन्य। पर जब करुणरस आया, श्लोक शोकमय हो गया तो व्यंग्यार्थ भी निर्मित हुआ। बात सीधे न कह-कर वक्र ढग से कही जाने लगी। आदमी को उपदेश देने के बजाय पचतंत्र ने पशु-पक्षियों का सहारा लिया। अतिशयोक्ति ने व्याजस्तुति और व्याजनिन्दा अलंकार निर्मित किये। जहां 'नार्मल' से 'सबनार्मल' हुआ, व्यंग्य आ गया।

व्यंग्यार्थ साहित्य शास्त्र में 'ध्वनि' वाचक शब्द है। अनेक कारण होते हैं व्यंग्य लिखने के। 'मुमकिन नहीं कि तोप के बदले में तलवार निकालो', 'अकबर' इलाहाबादी फरमा गये कि 'मुकाबिले में अखबार निकालो!' वाल्टेयर ने फ्रेंच राज्यक्रांति की नीव रखी। 'गोर्की' का अर्थ ही था 'कड़ुआ' और स्विफ्ट के व्यंग्य गुलिवर की यात्रा रूप में प्रकट हुए। भारतीय भाषाओं में राजा की कंजूसी पर 'कुंचन नंबियार' (मलयालम) ने व्यंग्य रचा; बंगला मे 'परशुराम' ने बंगालियों की कई कमजोरियों को उजागर किया जैसे आचार्य अत्रे (मराठी), कन्हैयालाल कपूर (उर्दू), ज्योतीन्द्र दवे (गुजराती), चो (तमिल) आदि ने। हिन्दी के 'शिवशम्भु शर्मा' और विजयानन्द त्रिपाठी 'उग्र' और बेढब, विनोद शर्मा तथा भ्रमरानन्द, हरिशंकर परसाई और शरदजोशी और क्या करते रहे हैं ?

—हां, हिन्दी व्यग्य की बड़ी ऐतिहासिक भूमिका पद्य और गद्य दोनों में है। भारतेंदु के चूरनवाले लटके और बालकृष्ण भट्ट/बालमुकुन्द गुप्त से लगाकर 'घोष, बोस, बनर्जी, चैटर्जी' उप नाम से लिखनेवाले राधाकृष्ण और जीवितों मे 'कुट्टिचात्तन' उपनाम से लिखनेवाले 'अज्ञेय' तक सबने

यह भूमिका निभाई है।

(२) हां, काव्यम् यशसे, अर्थकृते, 'शिवेतरक्षतमे' (मम्मट) के अनुसार व्यंग्य भी छापने की सुविधा और नाम, नामा या पैसे या रोजी रोटी के लिए (कई कालमेश्वर हर दैनिक/साप्तहिक के साथ जुड़े हैं) लिखे जाते रहे हैं। और प्रयोजन है समाज-सुधार, दम्भ-स्फोट, पर्दाफाश करना, ढोंग की आलोचना, विचार-क्रान्ति आदि। यही 'प्रतिबद्धता' है।

(३) 'चरित्र' शब्द बड़ा अनेकार्थी है 'स्त्रियश्चरित्रम्' (तिरिया चरित्तर) की तरह। मराठी में चरित्र का अर्थ है जीवनी। संस्कृत में चरितम् उसी अर्थ मे है, रामचरितमानस। अंग्रेजी अर्थ 'कैरेक्टर' चरित्र पर आरोपित किया गया। पर जब हम कहते हैं साहित्य में 'व्यंग्य का चरित्र होना चाहिए' उसका अर्थ, व्यंग्य की अपनी शैली, अपनी मर्यादाए, आचार सहिता होनी चाहिए। उसके अभाव में वह खोखला हो जाता है, एक व्यग्यकार ने मेरे बारे मे 'धर्मयुग' में लिखा, "फिर माचवेजी अपनी कार कनाट सर्कस मे घुमाते हुए आये।" गरीब माचवे के पास 'कार' कभी न थी, न है। तो यह व्यग्य 'बेकार' हो गया, तथ्यपरक नही था। हरिशंकर परसाई ने भी 'कल्पना' में मुक्तिबोध की रुग्णता के समय, मेरे और मुक्तिबोध के सारे पुराने संबंध बिना जाने हुए अंतिम पृष्ठ में कुछ लिख मारा। समझने वाले समझ गये। व्यंग्य मुझपर नही फिट हुआ, उलटकर उन्हें ही लगा। ऐसा ही 'उग्र' के अनेक प्रकार के लेखन में हुआ है। 'उग्र' के व्यंग्य मे चरित्रहीनता बहुत स्पष्ट है। क्योंकि 'उग्र' अपने ढंग के 'मतवाला' थे। मत बदलते जाते थे! आज रुष्ट हैं तो कल तुष्ट हैं, मुझ पर उन्होंने दोनों तरह से लिखा। ऐसे व्यक्ति के व्यंग्य का कोई अर्थ नही रह जाता। जो राजनैतिक काल में लिखते है, जैसे कमलेश्वर या परसाई ने 'करंट' मे लिखे, उन्हे कई बार परस्पर विरोधी बातें, गिरगिटान राजनीति में करना पड़ती है। उतनी ही मात्रा मे वे सफल 'नेता' तो होते जाते हैं; साहित्य-गुण, जिनमें एक शायद ईमानदारी और एकरूपता भी है, कम होते जाते हैं। लोग ऐसे व्यंग्यकारों को गभीरता से नही लेते !! व्यग्य का सारा उद्देश्य ही भोथरा हो जाता है।

—सबसे ज्यादा व्यग्य आज किसपर किया जाना चाहिए ?

आपका 'आज' कितना लंबा चौड़ा है, इमर्जेंसी से पहले, इमर्जेंसी के बाद ? जनता पार्टी के शासन के समय या बाद ? हर समय मुझे तो व्यंग्य के कई अवसर दिखाई देते हैं। मैं नरेन्द्रदेवजी के 'संघर्ष' में लिखने वाला, समाजवाद का अध्येता, विद्यार्थी, उस मूल्य मे श्रद्धा करने वाला व्यक्ति रहा हूं, पर राजनारायणजी की आकृति देखते ही मुझे 'विदूषक' की याद आती है। और अकेले राजनारायण क्यो, हर राजनैतिक पार्टी के 'अपने-अपने विदूषक' हैं ! व्यंग्य लेखक कोई खुदा नहीं है। उसपर क्यो न व्यंग्य किया जाये? 'शंकर और लक्ष्मण' ने अपने ही ऊपर व्यंग्यचित्र, बनाये हैं !

(४) आपके प्रश्न मे 'भाषा' के स्वरूप के सम्बन्ध मे काफी मुगालते हैं। साहित्य की भाषा व्यवहार की भाषा से कोई अलग भाषा नही होती। 'व्यंग्य' साहित्य की ही एक विधा है। जैसा साहित्य होगा, वैसा ही उसके व्यंग्य का स्तर होगा। कुछ बड़े व्यंग्यकारों ने भाषा को कई नये शब्द दिये हैं। बंकिम चन्द्र का 'गौरांग महाप्रभु', राजशेखर बसु का 'गा-मानव', 'जार्ज आरवेल' का 'डबल टाक डबल थिंक' ऐसे अनेक उदाहरण साहित्य के इतिहास में हैं। कई अमर पात्र भी दिये हैं जैसे डॉन किहोटे (Don Quixote) का 'सांकोपांका' सर्वान्तीस का एक अमर इस्पाहानी पात्र है। मराठी में चि० वि० जोशी ने 'चितामणराव' दिया या उर्दू में 'चचा छक्कन' (इम्तियाज अली ताज) या हिन्दी का 'लतखोरीलाल' (जी० पी० श्रीवास्तव), या कॉटन पिगसन' (बेढब)।

(५) सब भाषाओं में, सब साहित्यों में, सब साहित्य विधाओं में नकली-असली होता ही है। ज्यों-ज्यो व्यावसायिकता बढ़ती है, नकली चीज असली चीज को पछाड़ना चाहती है, जैसे नकली घी असली घी को। कवि सम्मेलनों ने, होली विशेषांकों ने हिन्दी में फरमाइशी व्यंग्य बहुत दिये, जो बढ़ती थे।

(६) मुझे हिन्दी व्यंग्य से कोई शिकायत नहीं। मैं आशावादी हूं। अभी जो व्यंग्य की स्थिति है वह बहुत आदर्श या सर्वोत्तम नही है। पर वह बढ़ेगी। श्रीलाल शुक्ल, विनोद शुक्ल, अशोक चक्रधर, सूर्यभानु गुप्त, सरोज कुमार आदि के व्यंग्य मुझे अच्छे लगते हैं।

(७) 'प्रतिबद्ध' और 'सार्थक' दोनों विशेषण काफी बहस मांगते हैं।

शायद आपके मन में जो इनकी व्याख्या है। ठीक वही हर व्यंग्य-लेखक के मन में या पाठक के मन मे नही है। पर अप्रतिबद्ध लेखन सभी निरर्थक होता है यह मानव की भूल है। प्राचीन काल के जितने सार्वकालिक महत्त्व के व्यंग्य हैं उनमे से कोई आधुनिक अर्थवाली राजनैतिक सामाजिक 'प्रति-बद्धता' नही नजर आती। 'अकबर' इलाहाबादी ब्रटिश सर्कारी नौकर थे। पर उनके व्यग्य कितने सटीक और सार्थक हैं। रवीन्द्रनाथ त्यागी सरकारी नौकर हैं, गोविंद मिश्र ख्वाजा बदी उज्जमा, संतोष कुमार नौटियाल भी। और अब तो हिन्दी मे अनेक आई० ए० एस० लेखक कवि हैं, आधा दर्जन नाम तो सहज याद आ रहे हैं, पर उनमें कई उत्तम व्यंग्य लिखते हैं। श्री नारायण चतुर्वेदी अनेक वर्षों तक सरकारी नौकरी में रहे; उससे 'विनोद शर्मा' के व्यग्य में कमी नही आयी!

बुनियादी भेद यह है कि प्रतिबद्ध लेखक 'नारा' लेकर चलता है। कई बार उसका दृष्टिकोण 'पक्ष'-विशेष से 'वाद'-विशेष से कुंठित होता है।

(८) यह जरूरी नही कि हर व्यग्यकार सदा सब दिशाओं में 'पटे के हाथ' दिखाता रहे। एक ही विषय लेकर उसपर व्यंग्य लिखने वाले भी कई लेखक होते है। प्रश्न व्यंग्यकार की लेखनी, वाणी के पैनेपन का है। उसके शब्दों मे कितनी मारक शक्ति है। किसीकी कविता पढी थी—

(कलकत्ते मे) रिक्शेवाले से पूछा—
'पैर मे पट्टी बंधी है, रिक्शा कैसे चलाओगे?'

रिक्शावाला बोला—
'बाबूजी, रिक्शा पैर से नही, पेट से चलता है!"

छोटी चुटीली व्यग्य-रचना है या जैसे 'डागा' की—
लोग कहते हैं भारत कृषि प्रधान देश है,
मैं कहता हू भारत कुर्सी प्रधान देश है।

मुझे, व्यग्यकार की लड़ाई प्रतिबद्धता की खामियों से हो, तो उसमें कोई बुराई नही लगती।

(९) नही। साम्यवादी या समाजवादी देशों में साहित्य सरकार और शासन द्वारा नियन्त्रित होता है। हमारे देश मे आये दिन हर अखबार, हर

लेखक चाहे जो, चाहे जिसके बारे में लिख रहा है, व्यंग्य से और अन्य ढंग से भी।

(१०) आज के जमाने मे सारा साहित्य ही 'नक्कारखाने मे 'तूती' की आवाज' इस माने में है कि साहित्य मुद्रित होकर कितने प्रतिशत साक्षरों तक पहुंच पाता है ! हिन्दी प्रदेशों की साक्षरता का औसत १५% है। उनमें भी व्यंग्य की पुस्तकें या रचनाए (पत्र-पत्रिकाओ मे) कितने प्रतिशत के पास पहुंच पाते हैं ?

□□